स्वाध्याय ग्रन्थमाला द्वितीय पुष्प

॥ ओ३म् ॥

संध्या मन्त्र

विशेष व्याख्यान सहित

★

लेखक

हरिशरण सिद्धान्तालंकार

मूल्य
१२ आना

प्रकाशिका
सावित्री देवी

श्री० पं० हरिशरण जी

द्वारा लिखित पुस्तकें मिलने का पता

—·o—

१. आर्य समाज, नया बांस, देहली ।

२. श्रीमती सावित्री देवी जी,
मंत्रिणी आर्यस्त्री समाज, दीवानहाल, दिल्ली

३. आर्य समाज, हनुमान रोड, नई दिल्ली ।

४. पुस्तक भंडार, गुरुकुल काँगड़ी ।

५. आर्यवर्त प्रेस,
लड्डू घाटी, पहाड़ गंज, दिल्ली ।

६. श्री० बाल कृष्ण जी आर्य,
दरीबे के कोने की दुकान, चाँदनी चौक, देहली ।

७. गोविन्दराम हासानन्द,
पुस्तक विक्रेता, नई सड़क, दिल्ली ।

—x—

॥ ओ३म् ॥

संध्या मन्त्र

(विशेष व्याख्यान सहित)

लेखक
हरिशरण सिद्धान्तालंकार

प्रकाशिका
सावित्री देवी
धर्मपत्नी श्री डा० नन्दलाल जी आर्य

२६ फ़रवरी १९५०

पाठकों से निवेदन

प्रकाशिका द्वारा

आर्य समाज दीवान हाल के साप्ताहिक सत्संगों में मैंने पं० हरिशरण जी के भाषणों में परिक्रमा-मंत्रों की व्याख्या सुनी थी, उसे जन-साधारण तक पहुँचाने के लिये पं० जी को प्रेरणा करके मैंने संध्या मंत्रों की व्याख्या को लेखबद्ध कराया और अब यह आप के हाथों में है। इसका मूल्य न्यून से न्यून रखने का प्रयत्न किया गया है। आशा है, जनता इसका स्वागत करेगी और लाभान्वित होगी।

२६. २. ५०. —सावित्री देवी

लेखक द्वारा

संध्या मंत्रों की यह व्याख्या जो आर्य स्त्री-समाज दीवान हाल दिल्ली की मंत्रिणी श्रीमती सावित्री देवी जी धर्मपत्नी श्री० डा० नन्दलाल जी द्वारा आप तक पहुँची है, उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। वास्तव में इस परिवार का धर्म-प्रेम तथा समाज-सेवा का भाव अनुकरणीय है। इस अवसर पर मैं श्री लब्भू राम जी ठेकेदार के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी प्रेरणा से इस स्वाध्याय ग्रन्थ-माला का प्रकाशन गत वर्ष प्रारम्भ हुआ था।

अन्त में पाठकों से मेरी यह नम्र प्रार्थना है कि वे इसे पढ़ कर अपनी सम्मति तथा परामर्श से अवश्य सूचित करें जिससे माला की अन्य पुस्तकों को अधिक उपयोगी बनाने में सहायता मिल सके।

२६. २. ५०. —हरिशरण

ओ३म्

स्वस्थ होना

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥१॥

देवीः—रोगों को जीतने की कामना (इच्छा) करने वाले (१)
आपः—जल (सारे शरीर को व्याप्त करने वाले) (२)
अभिष्टये—(रोगों पर) आक्रमण के लिये (हों), (और इसप्रकार
नः—हमारी
पीतये—रक्षा के लिये हों, (और)
शम्—शान्ति के लिये हों।
शं, योः—शान्ति की प्राप्ति तथा रोग निवारण करनेवाले (जल)(३)
नः—हमारे अभि—दोनों ओर (अन्दर तथा बाहर)
स्रवन्तु—बहें।

१. पंच भूत

मनुष्य का यह शरीर पंच भूतों के मेल से बना हुवा है। पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश के भिन्न२ अनुपातों में मिलने से इस शरीर का निर्माण हुआ है। ये पांचों

(१) दिव्—विजिगीषा—जीतने की कामना। (२)आप्—व्याप्त करना–to pervade (३) यु—मिश्रण—मेल प्राप्ति तथा अमिश्रण दूरीकरण—निवारण

सुख को देने वाले होने से वैदिक वाङ्मय (साहित्य literature) में देवता कहलाते हैं। शरीर में इन देवों के अंश (हिस्से) उपस्थित हैं। सामान्य भाषा में पृथिवी आदि को पिता कहें, तो शरीर में मौजूद हिस्से उनके पुत्र तुल्य हैं। पिता और पुत्रों में जब तक अनुकूलता (मेल) रहती है, तब तक शरीर स्वस्थ बना रहता है। और जब यह अनुकूलता नष्ट होती है, तभी विरोध लड़ाई की गर्मी, ताप = संताप बुखार आदि के रूप में प्रकट होती है। मनुष्य का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। इसी लिये वेद में स्थान स्थान पर सृष्टि के इन सब देवों के साथ शान्ति कायम रहने की प्रार्थना मिलती है।

२ स्वास्थ्य— HEALTH

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन भूतों के साथ साम्य = समता = Harmony ही स्वास्थ्य है; और इस समता का टूटना ही अस्वास्थ्य का मूल कारण है। पृथिवी आदि हमारे अनुकूल बने रहे तो हम स्वस्थ हैं और यदि इन की प्रतिकूलता हो गई तो हम बीमार होगये। इस प्रकार स्वस्थ रहने के लिये कोशिष करने का मतलब इन भूतों को अपने अनुकूल बनाने से है।

इन में आकाश सारे ब्रह्माण्ड में एक सा है, सो उस की अनुकूलता और प्रतिकूलता में हमारी कोशिश से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वस्तुतः, आकाश तो सब जगह सब प्राणियों के लिये अनुकूल है ही। इसी तरह पृथ्वी का भी बहुत फ़र्क नहीं है। यह ठीक है कि भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न२ चीजों की पैदावार पृथ्वी के भेद को बतला रही है, परन्तु मनुष्य कहीं भी रहता हुवा पृथ्वी

की इन सब उपजों को हासिल कर सकता है। इसलिये पृथ्वी की प्रतिकूलता की परेशानी पुरुष को प्राप्त नहीं होती।

३. जल, (अग्नि), वायु

ऊपर के बिचार के मुताबिक पहला भूत पृथ्वी, तथा पांचवां भूत आकाश ये दोनों ही अलग कर दिये जांय तो सिरे कटने के बाद जल अग्नि और वायु ये बीच के तीन भूत रहगये। इन के भी बीच में जो अग्नि है वह तो इंग्लैण्ड न्यूयार्क और देहली में एक सी है। उसकी अनुकूलता प्रतिकूलता का सवाल ही नहीं उठता और इस प्रकार दो ही भूत जल और वायु रहजाते हैं, जिनकी अनुकूलता के लिये मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है। इसी बिचार से डाक्टर मरीज़ को आबोहवा की तबदीली के लिये पहाड़ पर या समुद्र के किनारे जाने की सलाह दिया करता है। आकाश पृथ्वी व अग्नि की तबदीली के लिये कहीं जाने को कभी नहीं कहा जाता इस प्रकार यह तो कहने की जरूरत ही नहीं रह जाती कि दूसरे भूतों के मुकाबिले में जल और वायु पर हमारा ध्यान अधिक होने की आवश्यकता है।

४. एक फल (A FRUIT)

यह सब ऐसा मालूम होता है कि "आकाश, वायु-अग्नि-जल, पृथ्वी" एक फल है। इस फल के आकाश पृथ्वी तो चारों ओर के छिलके हैं और अग्नि बीच का बीज है। छिलके और बीज को छोड़ कर बाकी जल तथा वायु गूदे के स्थान पर है। आम तौर से मनुष्य इसी का प्रयोग करता है। छिलके और बीजकी उपयोगिता न

हो, सो तो है ही नहीं। पर मनुष्य का अधिक ध्यान गूदे पर ही होता है। इसी प्रकार यहां भी मनुष्य ने जल और वायु परध्यान देना होता है।

गूदे में भी जिस प्रकार रस (= Juice) का महत्व है, उसी प्रकार जल वायु में भी रस स्थानापन्न जल की ही सारी महिमा है। वायु स्वयं तो प्राणप्रद (Life-Giving) तत्व के रूप में सब जगह एक सी ही है। उस में जल कणों की ही अधिकता व कमी उसे नमी वाली या खुश्क बना कर अस्वास्थ्य-जनक व स्वास्थ्यप्रद कर देती है। इस प्रकार अन्त में हमारे सारे स्वास्थ्य का निर्भर इस जल तत्व पर ही रह जाता है। इसी का ठीक प्रयोग हमें स्वस्थ बनाता है तो ग़लत प्रयोग बीमार भी कर देता है।

५. संध्या का प्रारम्भ

'ध्यान के लिये स्वास्थ्य की आवश्यकता है' इसके बतलाने की ज़रूरत नहीं। सभी अपने अनुभव से जानते हैं कि बीमार होने पर मनुष्य की चित्त वृत्ति का केन्द्रित करना कठिन होताहै। उसकी वृत्ति को दर्द या बीमारी आत्म चिन्तन में नहीं लगने देती।

वस्तुतः 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' इस उक्ति में स्वास्थ्य को धर्म अर्थ काम व मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों का मूल कह कर स्वास्थ्य के महत्व को पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया है। यक्ष युधिष्ठिर संवाद में व्यास आरोग्य लाभ को इसी लिये सब से उत्तम लाभ के रूप में कहते हैं। पतञ्जलि योग दर्शन में चित्त वृत्ति की एकाग्रता = ध्यान = योग के लिये भी स्वास्थ्य को आवश्यक बतलाते हुए व्याधि = बीमारी को योगमार्ग का सब से पहला विघ्न (Obstacle) लिखते हैं।

एवं संध्या के लिये स्वास्थ्य की आवश्यकता है। सो संध्या का प्रारम्भ स्वास्थ्य के सर्वोत्तम साधन के प्रतिपादन से ही होता है।

६. देवीः आपः

यह हम ऊपर देख ही चुके हैं कि पञ्च भूतों में जल का ठीक प्रयोग सब से अधिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। इस मंत्र में जलों को 'देवीः' कहा गया है। दिव धातु का अर्थ है विजिगीषा = जीतने की इच्छा। यह जल मानो रोगों को जीतने की कामना करते हैं। वैदिक साहित्य में जलों के नीचे दिये हुए नाम ही जल का यह गुण स्पष्ट कर रहे हैं।

वारि = (निवारयति रोगान्) जो रोगों को दूर करता है। आजकल जल द्वारा रोगों को दूर करने की चिकित्सा पर्याप्त उन्नति कर रही है।

पवित्रम् = पवित्र करने वाला, सब foreign matter को शरीर से दूर करने वाला। जल-चिकित्सक जल के प्रयोग से शरीर को निर्मल करने का प्रयोग करते हैं।

※ भेषजम = औषध। इस प्रकार जल रोगों को दूर करने का साधन बनता है।

सर्वम्, तथा पूर्णम् = मनुष्य को ये जल सर्व = न्यूनतारहित स्वस्थ व पूर्ण बनाते हैं।

अमृतम् = और इस प्रकार ये अमर बनाने वाले हैं। असमय की मृत्यु से बचाते हैं।

७. अभिष्टये

अभिष्टि शब्द का अर्थ आक्रमण है। ये जल ठीक प्रयुक्त होकर मनुष्य के रोगों पर आक्रमण करते हैं, और उनको नष्ट

कर मनुष्य के कल्याण के लिये होते हैं। इसीलिये वेद में इन्हें 'आयुधानि' शस्त्र कहा है। इनके द्वारा वैद्य रोगों पर आक्रमण करता है। उस से ठीक प्रयुक्त हुए २ ये जल (सहः) रोगों का पराभव करने वाले होते हैं। 'क्षत्रम्' मनुष्य को सब क्षतों घावों से बचाते हैं। इनका नाम 'अक्षरम्' या 'अक्षितम् है'। इनके ठीक प्रयोग से मनुष्य का नाश=असमय में मृत्यु नहीं होती। 'सुक्षेम' नामका यह जल मानव के सचमुच उत्तम कल्याण के लिये होते हैं। इनका 'शुभम्' नाम भी इसी बात की सूचना दे रहा है।

भयंकर से भयंकर घाव पर बिना देर किये शुद्ध जल से भीगी पट्टी बांधने से आश्चर्य जनक शीघ्रता के साथ घाव ठीक होते देखा जाता है। पेट के विकारों में तथा खांसी जुकाम आदि में गरम पानी का पीना अमोध औषध के रूप में काम देता है। प्रातः गरम पानी का एक गिलास मल शोधन के लिये व Constipation (कोष्ठ बद्धता) को दूर करने के लिये बड़ा उपयोगी है।

८. पीतये

इस प्रकार ये जल मनुष्य की रक्षा के साधन बनते हैं। वैदिक साहित्य में इनका नाम ही 'धरुणम्' धारण करने वाला है। उन्हें 'स्वधा' कहा गया है। अपने ठीक प्रयोग करने वाले का ये पालन करते हैं। वस्तुतः ये 'ओजः' व 'तेजः' नाम वाले हैं। सचमुच ही नीरोगता के द्वारा तथा प्राणशक्ति का संचार करते हुए ये मनुष्य का पालन कर रहे हैं।

मनुष्य के जीवन के लिये ये नितान्त आवश्यक हैं।

संस्कृत साहित्य में इनका नाम ही 'जीवनम्' है। उपनिषदों में 'आपोमयाः प्राणाः' प्राणों को जल से बना हुआ माना है। आपः रेतो भूत्वा = जल ही वीर्यरूप से हमारे शरीर में रह रहे हैं। 'एवं' ये जल वस्तुतः ही जल हैं, जन्म से लय (मृत्यु) तक उपयोगी हैं।

६. शंयोः

'अप्सु मे सोमो अब्रवीत् अन्तर्विश्वानि भेषजा' यह अथर्व मन्त्र जलों के अन्दर सारे औषधों का वर्णन कर रहाहै। 'विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः'—यह दिव्य गुणों वाले जल सारे दोषों को दूर कर देते हैं। 'आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु' ये मातृ रूप जल दोषों को दूर कर हमारे शरीर को शुद्ध कर डालते हैं। 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः' ये जल निश्चय से नीरोगता को देकर कल्याण करने वाले हैं। 'ता न ऊर्जे दधातन' ये जल हमें बल और प्राणशक्ति में धारण करते हैं। 'आपः शिवाः शान्ताः शान्ततमाः' ये जल शिव कल्याण कर शान्ति को देने वाले और अत्यधिक शान्ति को देने वाले हैं। इनका नाम 'घृतम्' है, अर्थात् सब मलों को क्षरित दूर करके दीप्ति को प्राप्त कराने वाले। वस्तुतः ही इनमें मलों को दूर कर रोग निवारण की शक्ति तथा दीप्ति और प्राणशक्ति को बढा कर उत्तम स्वास्थ्य की परिणाम भूत शान्ति को प्राप्त कराने का गुण है।

१०. अभि स्रवन्तु

मन्त्र की समाप्ति पर कहा गया है कि ये जल हमारे अभि दोनों ओर (ये अभि ही इंगलिश में Amphi के रूप में Amphibious शब्द में दीखता है, जो जल थल दोनों में

रहने वाले प्राणी का वाचक है। अभि वयस् का यह विकार है। अभि दोनों स्थानों पर वयस् जीवन) बहें। 'दोनों ओर से' का यहां अभिप्राय अन्दर और बाहर से है। हम स्नानादि के रूप में इनका बाह्य प्रयोग करते हैं। और पीते समय आन्तर प्रयोग। वस्तुतः ये दो प्रकार का प्रयोग करने वाला व्यक्तिही इस मन्त्र का ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है। 'सिन्धु' का अर्थ है बहने वाले जल और ये बहने वाले जल जिसे दो प्रकार से प्राप्त हुए हैं (द्वि + अप = द्वीप) वह सिन्धु द्वीप है।

'ये जलों का आन्तर व बाह्य प्रयोग कैसे करना इसका यहां विस्तार से वर्णन न कर संक्षेप से इतना कह देना ही पर्याप्त है कि 'इनका बाह्य प्रयोग करते समय तो अधिक से अधिक ठंडे जल का ही प्रयोग किया जाय। इससे अधिक सुन्दर सारे नाड़ी संस्थान को सबल रखने वाला प्रयोग नहीं मिल सकता। घोर सर्दी में भी गीले तौलिये से सारे शरीर को एक दो बार मल लेने से रुधिर का अभिसरण बड़ा अच्छा होकर असह्य ठंड भी पीडित नहीं करती। सदा ठंडे ही जल से स्नान करने वाले पुरुष की त्वचा उसे रोगों से सुरक्षित रखती है। इस व्यक्ति को नमूनिया आदि का आक्रमण नहीं हो पाता।

आन्तर प्रयोग का नियम इससे विपरीत है। पीने के लिये सामान्यतः गरम ही जल का प्रयोग करना चाहिये। 'शंनो देवीः' मन्त्र से अगले मन्त्र में जलों के अन्दर सब औषधों का वर्णन करते हुए 'अग्निं च विश्व शम्भुवम्' शब्दों में जल के साथ अग्नि को सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त कराने वाला कहा है। 'अप् + अग्नि = जल अग्नि अर्थात् गरम जल पीया जाकर मनुष्य को नीरोग करने वाला है। आयुर्वेद में भी प्रश्नोत्तर रूप से गरम पानी के

पीने की महिमा का वर्णन है। गरम चाय का स्थान यदि गरम पानी लेले तो हमारे प्रायः सारे रोग ही समाप्त हो जांय। गरम चाय पीने का जो भी लाभ हमें अनुभव होता है वह वस्तुतः गरम पानी से हो रहा होता है।

सो पानी के प्रयोग का यह सूत्र हमें ध्यान रखना चाहिये कि 'बाहर ठण्डा, अन्दर गरम'। इस सूत्र को न भूलने पर हम स्वास्थ्य को लाभ करने वाले होंगे। और 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वास होता है' इस उक्ति के अनुसार हम स्वस्थ मन से उस प्रभु की उपासना के योग्य बन सकेंगे।

एवं यह संध्या की तैयारी का मन्त्र होजाता है। इस के अर्थ को क्रिया में परिणत कर हम अब ध्यान का प्रारम्भ करते हैं। 'वह आरम्भ किस प्रकार होता है' इसे अगले मन्त्र में देखिये—
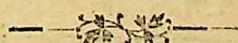
द्वितीय मंत्र

पशु श्रेणी से मनुष्य श्रेणी में प्रवेश

ओ३म् वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशो बलम्। ओं करतलकरपृष्ठे ॥२॥

ओं वाक् २— परमेश्वर के संरक्षण में, मेरी वाणी, वाणी हो
ओं प्राणः २— ,, मेरी घ्राण (नासिका) घ्राण हो
ओं चक्षुः २ — ,, मेरी आंख, आंख हो

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्:— ,, मेरा कान, कान हो। अर्थात् ये इन्द्रियां अपने ज्ञान प्राप्ति रूप कार्य को ठीक तरह से करती हुई, इन नामों से कहलाने योग्य हों।

ओं नाभि:— —(मेरे ज्ञान के सरोवर में) प्रभु कृपा से नाभिपर्यन्त जल हो।

ओं हृदयम्:— ,, ,, हृदय पर्यन्त०

ओं कण्ठः— ,, ,, कण्ठ ,,

ओं शिरः— ,, ,, सिर ,,

अर्थात् वाणी आदि ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग से अपने ज्ञान को क्रमशः बढ़ाता हुआ मैं अपने ज्ञान सरोवर को डुबाऊ जल से भरपूर कर लूं। केवल वाणी का ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयोग होने पर ज्ञानजल यदि नाभिपर्यन्त आता है,तो घ्राणेन्द्रिय का भी ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयोग होने पर यह हृदय पर्यन्त आ जाता है और चक्षु भी जब ज्ञानप्राप्ति में लग जाती है तो यह जल कण्ठ तक आजाता है और श्रोत्र के भी इस उत्तम कार्य में लग जाने पर तो यह ज्ञान सरोवर पूरा ही भर जाता है।

परन्तु इस ज्ञान यज्ञ की रक्षा के लिये शक्ति का होना भी आवश्यक है। सो मंत्र में आगे कहते हैं कि :—

ओम् बाहुभ्यां यशोबलम् —उस प्रभु कृपा से हमारी बाहुओं में यशस्वी बल हो

ओम् करतलकरपृष्ठे — ,, हमारे हाथों के तल तथा पृष्ठ दोनों यशस्वी बल से युक्त हों।

१. संध्या के चार भाग

इस प्रस्तुत मन्त्र के साथ संध्या का प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व हम संध्या की ठीक प्रकार से तैयारी कर चुके हैं। और "वाक् २" से लेकर अघमर्षण मन्त्र तक हम क्रमशः वागादि ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति में लगाने का निश्चय (इन्द्रियस्पर्श), अंग प्रत्यंग को शुद्ध करने का विचार (मार्जन), अपने जीवन के विस्तृत कार्यक्रम का विचार (प्राणायाम), तथा पापों कोकुचल डालने का निश्चय (अघमर्षण) करते हैं। और इसके साथ सन्ध्या का प्रथमांश समाप्त होता है। यदि मानव जीवन के १०० वर्षों के साथ जोड़ कर हम संध्या का विचार करें, तो यहां तक जीवन का प्रथमांश ब्रह्मचर्य काल है। इसमें व्यक्ति अपनी उन्नति व शोधन व परिपक्वता का पूर्ण ध्यान कर अपने को द्वितीयाश्रम के योग्य बनाता है।

संध्या का द्वितीयांश मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्रों से बना है। इन में एक आदर्श गृहस्थी के गुणों के क्रमिक विकास का उल्लेख है और साथ ही सामाजिक जीवन को सुन्दर बनाने के लिये एक आवश्यक नियम का संकेत है। यह नियम संक्षेप से यह है कि 'जो व्यक्ति सारे समाज के साथ प्रीति न रख द्वेष से वर्तता है, और परिणामतः जिसे समाज भी अवाञ्छनीय (undesirable) समझता है, उसे हम कानून के सपुर्द करते हैं'। इस नियम के पालन पर ही सारी समाज व राष्ट्र व्यवस्था निर्भर करती है।

इसके बाद आदर्श गृहस्थ जीवन बिताकर मनुष्य वनस्थ होता है। उसका मुख्य कर्तव्य मनु के शब्दों में "स्वाध्याये नित्य युक्तः स्यात्" स्व-अध्याय = Introspection में नित्य लगे रहना है। अपने अन्दर उस आत्म तत्व के दर्शन का प्रयत्न

करना, अपने जीवन की क्रियाओं को इसी साधना के लिये करना ही सच्चा वानप्रस्थी बनना है। इसी को संध्या के तृतीयांश में उपस्थान (= प्रभु के समीप बैठना) कहते हैं। इस उपस्थान से वह प्रभु की तेजस्विता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर स्वयं भी अद्भुत तेजस्वी बनने का प्रयत्न करता है। उस तेजस्विता में निर्मल बन अपने को उज्वल बनाने के लिये यत्नशील होता है।

अब, जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से अग्नि सा हो जाता है उसी प्रकार यह भक्त भी प्रभु के वरेण्य (worth-seeking) भर्ग=तेज को धारण करता है। सब मलों का न्यास कर यह सच्चा संन्यासी अधिक से अधिक तेजस्वी होता है। परन्तु उस तेजस्विता के अभिमान से बचे रहने के लिये उस प्रभु के चरणों में नतमस्तक होता है। और इस प्रकार नमस्कार मन्त्र के साथ संध्या का चतुर्थांश भी समाप्त होकर संध्या की पूर्ति होजाती है।

२. पहली श्रेणी से दूसरी में

प्रथम मन्त्र (शन्नो देवी:) में आरोग्य के लिये प्रार्थना व अनुष्ठान का उल्लेख हुआ है। और अब द्वितीय मन्त्र में सब इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगा कर पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने को कहा गया है। वस्तुतः आरोग्य यदि प्रथम श्रेणी है तो ज्ञान द्वितीय श्रेणी की चीज है। मनुष्य को छोड़ सब पशु पक्षी 'भूत' हैं। अर्थात् वे अपनी सत्ता रखते हैं। 'भू' धातु का अर्थ है to be-होना। वे सब प्राणी हैं, प्राण धारण करते हैं, उनके शरीर स्वस्थ हैं। और इस स्वास्थ्य ही के साथ उनकी उन्नति समाप्त हो जाती है। बस 'होना' ही उनका मूल गुण (characteristic) है।

मनुष्य इनसे ऊपर उठता है। मनुष्य का मूलगुण मनन

करना-ज्ञान प्राप्त करना है। इसी दृष्टि से वह पशुओं से उत्कृष्ट है। विद्या विहीन मनुष्य, पूर्ण स्वस्थ होता हुआ भी एक पूर्ण पशु (perfect animal) ही है। कवियों ने 'विद्या विहीनः पशुः' 'साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' आदि शब्दों में ज्ञानरहित पुरुष को पूंछ व सींग से रहित पशु के समान ही कहा है। Swinnock के शब्दों में Knowledge is the excellency of man whereby he is usually differenced from the brute अर्थात् ज्ञान से ही हम मनुष्य को पशुओं से भिन्न कर पाते हैं ज्ञान के अभाव में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं पशु केवल देखता है, मनुष्य समझता है। वह अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों के तत्व को समझने के साथ इस ब्रह्माण्ड की संचालक शक्ति को जानने का प्रयत्न करता है। "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" वेद के इन शब्दों के अनुसार मृत्यु को जीत कर अमर पद को पाने का अधिकारी बनता है। नहि 'ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते' इन गीता के शब्दों में यह ज्ञान ही उसे निर्दोष व पवित्र बनाने वाला होता है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' इस योग सूत्र के अनुसार मनुष्य के सारे क्लेशों का मूल ज्ञान का अभाव ही है।

सो (१) अमर पद को पाने के लिये (२) सब दोषों से दूर होकर पवित्र बनने के लिये तथा (३) सब क्लेशों से मुक्त होने के लिये यह ज्ञान ही साधन है। इस ज्ञान को ही मनुष्य ने इस दूसरी श्रेणी में प्राप्त करना है। पशुश्रेणी का मुख्य पाठ आरोग्य था, तो इस द्वितीय मानव श्रेणी का

(१ भूत भू सत्तायाम् to exist होना। २ मन् अवबोध knowledge ३ पश् देखना to see)

मुख्य पाठ ज्ञान है ।

३. तीन प्रकार का जप

इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये प्रभु ने मनुष्य को इन्द्रियां दी हैं। उनका शरीर के सर्वोच्च स्थान में स्थित होना ही ज्ञान की मुख्यता का संकेत करता है। मनुष्य ज्ञान प्राप्ति के लिये इन ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग आरम्भ करता है । सबसे पहले वह वाणी का प्रयोग करता है । वस्तुतः जप पठन अध्ययन का उपक्रम वाणी से ही है। इसी को ऊंचे सुनाई पड़ने के कारण वाचिक-जप कहते हैं। एक छोटा विद्यार्थी विद्या को आरम्भ करने वाला, प्रायः ऊंचे ही पढ़ता है-वह वाणी से रटकर ज्ञान को अपनाने का प्रयत्न करता है । एक बोलना आरम्भ करने वाले बालक को आप बाग़ में फूल दिखा कर कहें कि 'फूल' तो वह प्रत्येक फूल को दिखाकर फूल २ की रटलगाकर आप को परेशान कर देगा । उसे तो इस वाचिक जप द्वारा अपना पाठ याद करना है।

इससे ऊपर उठकर घ्राणेन्द्रिय का व्यापार प्रारम्भ होता है। श्वासोच्छ्वास के साथ सो हं सो हं का सूक्ष्म जप होने लगता है। वाणी से मनुष्य ने जहां वैज्ञानिक तथ्यों की रट लगाई थी, वहां अब कुछ २ आत्मचिन्तन प्रारम्भ होता है । यही धीमे धीमे होने वाला अर्ध उपांशु जप है। इस के आगे चक्षु का व्यापार आता है। मनुष्य आंख से देखता है, और अन्दर ही अन्दर शब्दों में सोचता है। यही जप पूर्ण उपांशु जप है। यहां आत्मा की झांकी मिलने लगती है।

अब और अधिक ऊपर उठकर कानों के व्यापार का

शुरू होता है मनुष्य सुनता है-बोलता नहीं। यही तो मानस जप है। यहां बोलने का व्यापार समाप्त हो गया है- और सुनना ही सुनना चल रहा है। यहां ही उस दृग् गोचर हुई आत्मा की आवाज़ सुनाई पड़ने लगती है। अन्तर्नाद का श्रवण होता है। यही जप की चरम सीमा है।

४. अन्तर्मुख यात्रा

वाणी के व्यापार के समय प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करते हुए, वायु का बाहर निकलना होता था। अन्दर आना (अन्तर्गमन) नहीं। उस समय इन्द्रिय की वृत्ति बहिर्मुखी थी। पर घ्राणेन्द्रिय के व्यापार के साथ उच्छ्वास (exhalation) के समय यह इन्द्रियवृत्ति बहिर्मुखी होती हुई भी, श्वास (In halation) लेने के समय अन्तर्मुखी हो जाती है। उच्छवास के समय की आवाज़ का अनुकरण योग में हं (हन्) है, तथा श्वास के समय की आवाज़ का अनुकरण स है। हन् का अर्थ नष्ट करना, तथा स का अर्थ 'वह' है। मानो उच्छ्वास के साथ सब बुराईयों को बाहर फेंक कर, पवित्र बन वह अनुभव करने लगता है कि मैं वह पवित्र आत्मतत्व हूं। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् = मैं वह हूं, ये नहीं मैं दिव्य बन गया हूं पार्थिव नहीं। प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के समय ऐसा विचारना ही योग के शब्दों में सोऽहं का जप है।

घ्राण के बाद आंख का व्यापार आता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थों पर पड़ी आकाश की किरणें प्रतिक्षिप्त होकर आंख के दर्पण (lens) पर पड़ती है और मस्तिष्क में पदार्थ की प्रतिमा बन पदार्थ दिखने लगता है। और इस

प्रकार आंख से कुछ बाहर नहीं जाता। परन्तु पूर्व के दार्शनिक आंख की वृत्ति का बाहर जाने पर पदार्थ के अनुरूप होना मानते हैं। सो आंख में भी बहिर्मुखता की प्रतीति है ही परन्तु कान में यह बहिर्मुख यात्रा समाप्त हो जाती है, वहां शब्द अन्दर जाते हैं, बाहर कुछ आता नहीं। इस प्रकार वाणी से प्रारम्भ होकर श्रवण पर यह अन्तर्मुख यात्रा पूर्ण होती है।

५. किस २ देवता का अंश

वैदिक साहित्य के अनुसार वाणी अग्नि देवता का अंश है (अग्नि र्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्)। प्राण वायु देव हैं (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत) चक्षु सूर्यांश हैं। (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) और दिशायें ही श्रोत्र हैं (दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्)। इनमें अग्नि पृथिवी पर स्थित देवों का मुखिया है, वायु अन्तरिक्ष के देवों का और सूर्य द्युलोक के देवों में प्रमुख है। दार्शनिकों के विचार के अनुसार दिशायें तो परमेश्वर के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। दिक् कालाकाशाः न परमात्मनो व्यतिरिच्यन्ते (प्रौढ़ न्याय)

ये वाणी आदि इन्द्रियां जिन देवों के अंश हैं मनुष्य को वे ज्ञान भी तदनुरूप उसके मुताबिक ही प्राप्त कराती हैं। वाणी के उपयोक्ता का ज्ञान पृथिवी के ऊपर नहीं उठा, घ्राणेन्द्रिय के व्यापार से उसका ज्ञान अन्तरिक्ष तक उठ आता है और चक्षु के व्यापार से उसका ज्ञान द्युलोक को स्पर्श करता है और श्रवण व्यापार के होने पर उसका ज्ञान अधिकाधिक व्यापक होकर उसे परमात्मदर्शन कराने वाला होता है।

६. इन्द्रियां तथा वेद

"अग्ने ऋग्वेदः, वायो र्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः" इस शतपथ वाक्य से अग्नि तथा वाणी का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। ऋग्वेद (ऋच् स्तुतौ) पदार्थमात्र के गुणों का वर्णन करने वाला विज्ञानवेद हैं । वाणी उन सब पदार्थों के गुणों का उच्चारण करती हुई मनुष्य के मस्तिष्क को विज्ञान से दीप्त करने का यत्न करती है । इसके बाद, वायु तथा प्राण का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। यज्ञों में आहुत पदार्थों के सूक्ष्मतम कणों को वायु दूर २ लेजाता है और नासिका उन के गन्ध का ज्ञान कराती हुई उन्हें श्वास वायु के साथ शरीर में लेजाती है। चक्षु व सूर्य का सम्बन्ध सामवेद से है। यह उपासना वेद है। उपासित परमेश्वर का दर्शन सूर्य आदि विभूतियों में इस आंख के द्वारा होता है । श्रोत्र व अथर्वा का सम्बन्ध अथर्ववेद से है । अथर्वा शब्द (थर्व=चर्=हिलना) स्थित प्रज्ञ योगी का वाचक है। अन्य इन्द्रियां हिलती हैं, पर कान अथर्व=न हिलने वाले हैं। ये हृदय में उपासित उस प्रभु की अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनते हैं।

७. वर्ण तथा साधन

बोलना शूद्रों का साधन है । घ्राणेन्द्रिय व्यापार वैश्यों का । वे प्रत्येक पदार्थ को सूंघते से हैं । क्षत्रिय आंख के द्वारा शासन करता है और ब्राह्मण अन्दर की आवाज़ को सुनने का प्रयत्न करता है। शूद्रों से ऊपर वैश्यों का स्थान है, इसी प्रकार सिर में वाणी से ऊपर नासिका का । वैश्यों के ऊपर क्षत्रिय हैं, इधर नासिका से ऊपर आंख का स्थान है।

क्षत्रियों के ऊपर ब्राह्मण हैं, और यहां आंखों को दोनों ओर से आवृत कर कुछ ऊपर उठे हुए कान हैं।

८. अहिंसा व स्थिरता का दृष्टिकोण

इन्द्रियों के उत्कर्ष-क्रम (superiority) को अहिंसा के शब्दों में इस प्रकार विचारा जा सकता है कि मुख से बाहर आये हुए श्वास वायु से अन्तरिक्षस्थ कितने ही कृमियों का विनाश हो जाता है (१) और वाक् बाण तो मनुष्यों के मर्म का भेदन करने वाला होकर घोर संग्रामों का कारण बन जाते हैं। मुख पर पट्टी बांध लेने पर भी जैन साधुओं के प्राणोछ्वास से कृमि मरते ही हैं। इसी से योगी लोग प्राणायाम द्वारा प्राणव्यापार को भी रोकने का प्रयत्न करते हैं। इतना हो जाने पर भी "सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषांस्यात् स्कन्ध पर्यय:" इन व्यास के शब्दों में आंख भी कुछ हिंसा करती है। इसी लिये संभवत: देवता 'अ-निमिष' हैं–वे पलकें भी नहीं मारते। हम लोगों के पलक से लाखों सूक्ष्म प्राणी चित हो गिर पड़ते हैं।

इन सब इन्द्रियों से थोड़ी बहुत हिंसा हो रही है पर कान किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते। वे पूर्ण अहिंसक हैं।

अन्य सब इन्द्रियां अस्थिर हैं। उनके अधिष्ठातृ देव भी स्थिर नहीं। वाणी चंचल है, उसकी अधिष्ठाता अग्नि भी चंचल। प्राण चल रहे हैं। उनका अधिष्ठाता वायु भी बह रहा है। आंखों की पलकें भी नीचे ऊपर हो रही हैं, इनका अधिष्ठाता सूर्य भी सरणशील है। पर, कान स्थिर हैं, उनकी

१ कृमि कीटों के संहार भय से ही जैनी साधु मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं।

अधिष्ठातृ देवता दिशायें भी स्थिर हैं।

६. श्रोत्र (कान) का महत्व

ऊपर के सब विचारों से अन्य इन्द्रियों की बजाय कान का अधिक महत्व है वस्तुत: जिस २ इन्द्रिय का जितना महत्व है उसके प्रयोग से उतना ही अधिक और अधिक ज्ञान प्राप्त होता हैं। 'संश्रुतेन गमेमहि, माश्रुतेन विराधिषि' इस अथर्व मन्त्र में प्रार्थना है कि हम श्रवण=सुनना=श्रोत्र व्यापार से सदैव युक्त हों, उस से कभी पृथक् न हों। ज्ञान प्राप्ति के लिये वाणी प्राण और चक्षु का प्रयोग करते हुए हम श्रोत्र का ज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रयोग करना भूल न जांय। सभी इन्द्रियां ज्ञान-प्राप्ति का साधन हैं-- श्रोत्र सर्वोत्कृष्ट साधन है।

१०. विश्वामित्र और राम लक्ष्मण

यदि हम इन सब इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयोग कर रहे होंगे तभी हमारी वाणी वाणी कहलाने के योग्य होगी। जो घड़ी समय ठीक नहीं देती वह भी क्या घड़ी है? ठीक इसी प्रकार यह ज्ञानेन्द्रिय वाक् यदि ज्ञानप्राप्ति में नहीं लगी तो वह भी क्या वाक् होगी। मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार हमारी सब इद्रियां ज्ञान प्राप्ति=पदार्थों के मापन में लगी हों तो हम 'विश्वामित्र' (सब इद्रियों से पदार्थों के ज्ञान में लगा हुआ) होंगे। उस समय हमारा यह ज्ञानयज्ञ (शतसांवात्सरिक चल रहा होगा। परन्तु इस यज्ञ के निर्विघ्न चलने के लिये विश्वामित्र के यज्ञ के रक्षक राम और लक्ष्मण की तरह दोनों भुजाओं के व करतल और करपृष्ठ के यशस्वो–बल की आवश्य-कता है। ज्ञानयज्ञ ब्रह्मयज्ञ था, तो यह शक्ति संपादन क्षत्र यज्ञ

है। ब्रह्म और क्षत्र दोनों का समन्वय आवश्यक है। राम लक्ष्मण विश्वामित्र के यज्ञ के रक्षक थे तो विश्वामित्र भी उन्हें बला अतिबला आदि विद्यायें प्राप्त कराने का कारण बने थे। इसी प्रकार ज्ञान बल के लिये और बल ज्ञान के लिये सहायक होता है। दोनों ही आवश्यक हैं।

पर यह ज्ञान और बल दोनों ही सब अंगों की शुद्धि की अपेक्षा रखते हैं, सो अब वह शुद्धि मार्जन मन्त्र से आरम्भ होती है।

तृतीय मंत्र

मार्जन=अंग प्रत्यंग का शोधन

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥३॥

भूः=प्राणशक्ति (स्वास्थ्य), शिरसि=मस्तिकष्क में

पुनातु=पवित्रता को करे

भुवः=अपानशक्ति व ज्ञान नेत्रयोः=नेत्रों में, पुनातु०

स्वः=व्यानशक्ति व इन्द्रियशासन कण्ठे=कण्ठ में, पुनातु०

महः= महान् होना=उदारता हृदये=हृदय में, पुनातु०

जनः=प्रादुर्भाव=विकास नाभ्यां=नाभि में, पुनातु०

तपःतपस्या (आराम तलबी का न होना पादयोः=आचरण में,पु०

सत्यं = सत्य, पुनः = फिर, शिरसि = मस्तिष्क में पुनातु०
ओम् = रक्षक प्रभु, जो खं ब्रह्म = आकाश में सर्वव्यापक है,
सर्वत्र = सब जगह = सब इन्द्रियों में सब अंगों में पुनातु =
पवित्रता को करे,

१. स्वस्थशरीर में स्वस्थ बुद्धि

मार्जन मंत्र का प्रारम्भ इस वाक्य से हुआ है कि 'प्राण मस्तिष्क को पवित्र करें'। ज्ञान की पवित्रता के लिये मस्तिष्क का स्वस्थ होना सबसे आवश्यक है सो इसे सर्वप्रथम स्थान देना ठीक ही है। 'Ideas rule the world' = विचार ही संसार का शासन करते हैं उनकी पवित्रता से ही पवित्र संसार का निर्माण हो सकता है।

ये विचार मस्तिष्क की उपज हैं, सो मस्तिष्क के पवित्रीकरण से यह शोधन कार्य प्रारम्भ होता है। उसका शोधन 'भूः' ने करना है। भू का अर्थ सत्ता = स्वास्थ्य है। इस का मूल प्राण है। तो यहां स्वास्थ्य के प्रमुख साधन प्राण को 'भूः, शब्द से स्मरण किया गया है। उपनिषदों मेंसभी इन्द्रियों को'प्राणाः वाव इन्द्रियाणि शब्दों में प्राण नाम दिया है चूंकि प्राण शक्ति ही सब इन्द्रियों को स्वस्थ बनाये रखतो है। प्राण शक्ति की न्यूनतामें (lower vitality के होने पर) इन्द्रियों में विकृति आती है, किसी न किसी इन्द्रिय का शिरः स्थित केन्द्र विकृत व अविकसित होकर मनुष्य को कुछ पागल बना देता है। प्राण शक्ति के विकास के साथ सभी केन्द्र अपना कार्य ठीक रूप से करने लगते हैं। प्राणशक्ति वीर्य में निहित है, यह वीर्य सभी दोषों को विशेष रूप से कम्पित कर (वि+ईर् = कम्पित करना) नष्ट करदेता है।

२. संयम

परन्तु यही वीर्य (वीरता) यदि संयत (controlled) न रहा तो और भी अधिक इन्द्रियों की विकृति का कारण बनेगा, सो मंत्र के अन्त में पुनः प्रार्थना कीगई है कि 'सत्यम्,=नियमित सत्ता=संयम में रक्खी गई शक्ति (सत्+यम्) हमारे सिर को पुनः पवित्र करें। कामवासना में फंसे पुरुषों की वीर्यशक्ति अ-नियन्त्रित हो जाती है और यह सारे शरीर की कमज़ोरी का कारण बनती हुई मस्तिष्क के विकार का विशेष कारण बनती है। पागलखानों की संख्या का अधिकांश प्रायः इसी अनियन्त्रित शक्ति से हुए २ मस्तिष्क विकार का ही परिणाम है।

सो दिमाग़ के स्वास्थ्य के लिये 'भू+सत्य'=प्राण+संयम की आवश्यकता है। वीर्य व प्राणशक्ति की वृद्धि यदि हमारे कर्तव्य का प्रारम्भ है तो संयम हमारे कर्तव्य की पूर्णता है। 'वीर्य व प्राणशक्ति की वृद्धि और संयम ही मानव जीवन का Alpha and Omega=आदि तथा अन्त-मुख्य उद्देश्य है। यही वीरता व संयम से जनित स्वस्थ मस्तिष्क ही मनुष्य को न्यूनताओं से दूर कर पूर्णता की ओर लेजाता है।

वीरता के साथ सभी गुणों का=सारे virtue का वास है, संयम उन गुणों का रक्षक है। साहित्य में 'कृष्ण, शब्द कृष्+ण से बना है। इनमें कृष्=increase=वृद्धि=शक्ति की उत्पत्ति अर्थात् 'भू' का वाचक है, तथा ण=निवृत्ति=संयम का द्योतक है। एवं कृष्ण का अर्थ भी वीरता व उसके संयम का अवतार बनना है। इसीलिये पौराणिक साहित्य में कृष्ण पूर्णावतार माने जाते हैं। 'वीरता+संयम, ही तो मनुष्य को पूर्ण बनाती है।

३. नेत्रों की पवित्रता

अपूर्ण मनुष्य ही औरों की अपूर्णता को देखा करते हैं। पूर्ण नहीं। सो इस वीर+संयमी(ऋत एव पूर्ण) पुरुष का 'भुवः' =अपान उसके नेत्रों को पवित्र कर देता है, उसको दोषैकदृक् =औरों के दोष ही देखने वाला नहीं रहने देता।

'भूः'और 'सत्य' ने उसके सिर को पवित्र किया था, उसके ज्ञान को निर्मल किया था। यह ज्ञान मनुष्य की इन्द्रियों हृदय व मन के दोषों को दूर कर देता है। स्वयं पवित्र हृदय व निर्दोष औरों के दोषों को देखेगा ही क्यों ? मनुष्य अपना हीतो प्रति-क्षेप (reflection) देखा करता है। स्वयं असत्य बोलने वाला औरों को भी वैसा ही समझता है। दुर्योधन को सब में न्यूनता नजर आती है, परन्तु युधिष्ठिर को नहीं।

जो मनुष्य जितना ज्ञानी होता है उतने ही अंश में पवित्र होता है और इसी अनुपात में औरों के दोष न देख अपनी हो न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ज्ञान हमारे दृष्टि कोण को ऊंचा बनाता है। इसी बात को मंत्र में इस प्रकार कहा गया है कि 'ज्ञान हमारे नेत्रों को पवित्र करे'। ज्ञान के लिये मंत्र में 'भुवः' शब्द आया है। 'भुव' धातु का अर्थ अवकल्कन=चिंतन व विचार है। भुवः शब्द का अर्थ आचार्य 'अपान' करते हैं। अपान का अर्थ है 'दूर करना' हटाना वस्तुतः ज्ञान तो आत्मा में है ही, शिक्षक व उपाध्याय ने उस पर पड़े हुए परदे को ही परे करना होता है।

४. कण्ठ की पवित्रता

इस प्राण तथा अपान की शक्ति वाले वीर+ज्ञानी पुरुष का स्वः=व्यान उसके कण्ठ को पवित्र करे, व्यान वायु का कार्य

"शासन" = rule करना माना गया है। सो स्व: = व्यान मनुष्य को शासन करने वाला बनाये, उसकी गर्दन पराधीनता के कारण किसी के सामने झुके नहीं।

'स्वर्' का अर्थ (स्वयं राजते) स्वतंत्र भी है, जो अपने जीवन को regulate करता है। जो जितेन्द्रिय है, इन्द्रियों का गुलाम नहीं। यह जितेन्द्रिय पुरुष औरों का शासन करता है, जो अपना शासन कर सका वह औरों का भी शासन कर पाता है वह किसी की गुलामी में नहीं जकड़ा जाता।

वैदिक साहित्य में इसी दृष्टिकोण से राजा के लिये जितेंद्रिय होने पर बल दिया गया है चूं कि "जितेंद्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजा:" = जो जितेंद्रिय हैं वही प्रजाओं को भी शासन में रख सकता है। जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा की ठीक ढंग से रक्षा भी कर पाता है "ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति" = ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्म संयम से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। विषयी राजा राष्ट्र की पराधीनता का कारण बन राष्ट्र की गरदन को झुकाने वाला होता है। एवं यह स्पष्ट है कि स्व: = आत्मनियन्त्रण ही स्वतन्त्र रख हमारी गरदन को सीधा रखेगा।

५. उदारता

यह तो स्पष्ट है कि यह प्राण अपान व्यान की शक्ति वाला पुरुष महान् बना है। वीरता ज्ञान व आत्मनियन्त्रण (Valour, Knowladge and Self Control) ये गुण ऐसे हैं जो कि एक

'एक पुरुष को महान् न बनायें यह सम्भव ही नहीं । यदि एक मनुष्य का शक्ति की सुरक्षा से शरीर स्वस्थ बना है और साथ ही उसके स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास है, उत्तम ज्ञान ने उसके दृष्टिकोण को पवित्र बनाया है और आत्मनियन्त्रण से उसकी गरदन किसी के सामने न झुककर उसे अपने गौरव का अनुभव करा रही है तो यह व्यक्ति संकोच =स्वार्थ=अल्पता व केवल 'अपने सुख को देखने की वृत्ति' को अपने महत्व के प्रतिकूल समझता है । उसका हृदय महान् विशाल=उदार =generous=हो गया है । और इसी विशालता ने उसकी हृदय की सब अपवित्रता को समाप्त कर उसे उज्ज्वल व निर्मल बना दिया है । यजुर्वेद के प्रथमाध्याय में ही कहा है कि "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ता अरातयः, उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" १. ७ अर्थात् दुष्ट भाव नष्ट हो गया, अदानशीलता भी नष्ट हो गई; दुष्ट भाव दग्ध हो चुका है, अदानशीलता भी दग्ध होगई; चूंकि मैंने विशाल हृदय धारण किया है । यह विशाल हृदय पुरुष ,कर्मणे वां वेषाय वां (१.६) हाथों को सम्बोधन करते हुए कहता है कि मैंने तुम्हें कर्मों के लिये और व्यापक कर्मों के लिये पाया है, यह उदार पुरुष केवल अपने लिये नहीं जीता, इसने तो 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' सारी पृथिवी को अपना कुटुम्ब बनाया है, और यह सभी के लिये कर्म करता है। सभी को अपना समझने से 'अ-युतोहं' औरों को अपने से जुदा न मानने से इसके हृदय में किसी के लिये द्वेष नहीं, यह सभी को देकर यज्ञशेष को ही खाना चाहता है । इसका हृदय यज्ञिय=पवित्र बन गया है वस्तुतः अपवित्रता का संबन्ध संकोच से है, विशालता में पवित्रता ही पवित्रता

है । एक प्याली का पानी नाम मात्र विष्ठा से ही जहां मलिन हो जाता है वहां नदी की विशाल जलधारा एक गंदे नाले के पड़ जाने पर भी गंदी नहीं होती । दार्शनिक दृष्टिकोण से गुण भी संकुचित और संकुचित होता हुवा अवगुण बन जाता है। दान का क्षेत्र संकुचित होते २ जब अपने मुख तक ही सीमित हो जाता है तो वह स्वार्थ =selfishness में तबदील हो जाता है । एवं विशालता ने ही हमारे हृदय को पवित्र बनाना हैं ।

६. विकास-Evolution

इस प्रकार हृदय को विशाल बना सारी पृथ्वी को अपना कुटुम्ब बना लेना ही मानव विकास की चरम सीमा है । मन्त्र में "जनः" शब्द इस विकास का ही संकेत कर रहा है । जन् धातु का अर्थ प्रादुर्भाव व Evolve होना है। यह जन व विकास हमारी नाभि में पवित्रता को करे । नाभि शरीर का केन्द्र है 'णह् बन्धने' इसने सभी अंग प्रत्यंगों को अपने में बांधा हुवा है इस केन्द्र की पबित्रता पर सारे शरीर रूपी राष्ट्र की पवित्रता निर्भर करती है । यह विशाल हृदय पुरुष भी अपने प्रादुर्भाव व विकास से अपने को पवित्र बनाकर अपने चारों ओर के जगत् को पवित्र करने का ध्यान करता है । सभी के साथ अपनी एकता को समझने के कारण सभी की पवित्रता के लिये वह अपने को पविश्र बनाता है। पवित्र केन्द्र से पवित्र ज्योति फैल कर सभी को पविश्र करेगी । इसप्रकार यदि प्रत्येक मनुष्य अपने को केन्द्र समझ उसके विकास का प्रयत्न करे तो राष्ट्र में सभी केन्द्रों से पबित्रता का प्रवाह बह कर सारे वातावरण को दिव्य व स्वर्गमय बना देगा । हम औरों के शोधन की बजाय अपने २ शोधन की

ओर ध्यान दें।

वैदिक साहित्य में नाभि के स्थान में 'समान' नामक वायु का निवास है। जैसे केन्द्र से परिधि का प्रत्येक बिन्दु समान दूरी पर होता है, उसी प्रकार हमारे से प्रत्येक व्यक्ति समान दूरी पर हो अर्थात् किसी एक को हम अपना नज़दीकी और किसी दूसरे को दूर का व पराया न समझें। सभी के साथ समान रूपसे वर्तें। यह पक्षपात शून्य समानभाव से वर्ताव ही न्याय है। इसी न्याय्य मार्ग का अवलम्बन मानव विकास की चरम सीमा है।

७. तप

'जो व्यक्ति स्वयं अपने को पवित्र बना औरों के प्रति पवित्रता के प्रवाह को भेजने का प्रयत्न करता है और जो सभी के प्रति समान भाव से वर्तता है और इस प्रकार न्याय्य (=fully justified) मार्ग पर चल रहा है यही व्यक्ति तपस्या मय जीवन को बिताता हुआ कहा जा सकता है। 'औरों की कमियों को न देख अपने को पवित्र बनाना और समानभाव से-रागद्वेष से न प्रेरित होकर-वर्तना' वह महान् तप है जो हमारे पावों को पवित्र करता है। अब हमारे पांव हमें नीचेकी ओर नहीं ले जा सकते, पतन (गिरना) से तप विपरीत है। तप्त हो प्रत्येक वस्तु ऊपर की ओर जाती है। वायु तप कर ऊपर की ओर उठती है, द्रव तप्त हो ऊपर की ओर जाते हैं। ठोस पदार्थ भी तप्त हो अन्त में ऊपर उठते हैं। यह प्रकृतिक नियम मानव जीवन पर भी इसी प्रकार लागू होता है। तप से उत्थान और तप के अभाव में पतन।

तपना वस्तु को पवित्र बना देता है। अग्नि में तपे सोने की सारी मलिनता दूर हो जाती है। इसी प्रकार तप मनुष्य को

पवित्र करता है। तपस्वी जीवन होने पर मनुष्य का चरित्र उज्ज्वल हो जाता है। पावों में पवित्रता करने का अभिप्राय चरित्र की निर्मलता से ही है। पद् धातु गतिवाचक है सो पाद शब्द गति अर्थात् चाल ढालका अर्थ रखता है। चरित्र शब्द में भी चर धातु गत्यर्थक है। आचार सदाचार शब्द भी उसी धातु से बने हैं। अंग्रेजी के character शब्द में चरित्र शब्द की ध्वनि के साथ चर ही धातु है। conduct शब्द में भी duxere या दक्ष् धातु गति वाचक है। एवं, हमारे conduct और character अथवा हमारे आचार व चाल ढाल को पवित्र करने वाला यह तप है। सो तपस्वी जीवन बनाने का महत्व स्पष्ट है। हमारा लक्ष्य easy going life न होकर एक संघर्ष व संग्राम आ-श्रम all round exertion का जीवन ही होना चाहिये। हम प्रति क्षण अपने को पवित्र बनाने में लगे हुए हों और राग-द्वेष से संग्राम कर उन्हें जीत रहे हों और इस प्रकार अपने अन्दर 'समानता' की वृत्ति को पैदा कर अपने जीवन व चरित्र को ऊंचा बनाने में लगे हों।

८. चक्र (वृत्त = Circle) का अन्त

यह उन्नति का चक्र 'भू' प्राण से प्रारम्भ हुवा था। और वास्तव में मानव उन्नति प्राण ने ही करनी है। Vitality वीर्य शक्ति के अनुपात में ही मनुष्य का उत्थान होता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस शक्ति का संयम नितान्त आवश्यक है "सत्यं पुनातु पुनः शिरसि" इस वाक्य में इसी संयम पर बल दिया गया है। "सत् यम्" सत्ता = शक्ति यम् = control = नियन्त्रण ही हमारे मस्तिष्क को ठीक रखेगा। यही हमें राम के समान ऊंचे चरित्र वाला बना कर मनुष्यों की उत्तमता की सीमा

तक लेजा कर 'मर्यादा पुरुषोत्तम' बनाने वाला होगा। इसके विपरीत संयम का अभाव हमें रामायण का प्रतिनायक 'रावण' बनाने वाला हो जायगा। संयम यदि हमें कृष्ण जैसे उज्जवल चरित्र का बनायेगा तो उसका अभाव हमें कंस बनादेगा। सो संयम का महत्व कभी भी अत्युक्त नहीं किया जासकता (can not-be exaggerated)

इस मार्जन मन्त्र का प्रारम्भ मस्तिष्क के पवित्रीकरण से हुआ था। अब यह पवित्रीकरण की क्रिया आगे और आगे बढती हुई फिर घूम कर सिर पर ही समाप्त हुई है। "सिर-आंखें-कण्ठ-हृदय-नाभि-पांव-सिर" यह चक्र है। सिर ही इस का आरम्भ है, सिर ही इस का अन्त है। वृत का जो शुरू होता है वही उसका अन्त भी होता ही है। हमारी सारी उन्नति व पवित्रता का दारोमदार (=निर्भर) सिर की पवित्रता पर है। विचारों की पवित्रता मनुष्य के कर्मों की पवित्रता का कारण होती है। कर्म हैं ही क्या? ये विचारों के ही तो स्थूल रूप होते हैं। सो सिर को पवित्र रखने का महत्व यहां मंत्र में बड़े सुन्दर प्रकार से व्यक्त किया है। वहीं से प्रारम्भ, वहीं अन्त।

६. इस उन्नति चक्र की रक्षा

ऊपर वर्णित सारे शोधन-सारे विकास-सारी उन्नति की रक्षा करना शोधन की क्रिया से भी अधिक महत्वपूर्ण है। और इस रक्षा का उपाय यही है कि उस आकाश वत् व्यापक ब्रह्म का स्मरण रखा जाय। संसार के शासक उस प्रभु का स्मरण हमें पाप-मार्ग से सदैव बचाये रखेगा। व्यास के शब्दों में "एकोहमस्मीतिच मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणं यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके

त्वं वृजिनं करोषि" मनुष्य अपने को अकेला समझ कई बार पाप की ओर झुकजाता है परन्तु हृदयस्थ उस प्रभु का स्मरण होने पर तो उस पुण्य पाप के जाननेहार उस के सामने पाप करने का संभव ही नहीं होता। सो हमें इस शोधन क्रम में प्रत्येक स्थान पर उसकी याद पवित्रता में स्थिर करने वाली होगी।

उस प्रभु का स्मरण दो प्रकार से काम करता है। उसका आदर्श हमें उत्साहित करता है उसकी आदर्श दया व न्यायकारित्व हमें भी उन गुणों को अपनाने के लिये प्रेरित करता है और उसका उग्ररूप हमें इन गुणों से विचलित होने से रोकता है। उसका सौम्यरूप आकर्षण का काम करता है तो उसका उग्ररूप अंकुश का। एक आगे से खैंचता है, और दूसरा पीछे से आगे चलने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार तीव्रता से आगे बढ़ हम ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं। निर्मल हो आत्मा भी परमात्मा की तरह भासने लगती है।

इन निर्मल चरित्र बनने वाले पुरुषों के जीवन का प्रोग्राम मार्जन मन्त्र के बाद प्राणायाम मन्त्र में कहागया है। आईये अब उस जीवन पुरोगम (प्रोग्राम) को देखें :—

चतुर्थ मन्त्र

प्राणायाम-मन्त्र

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम् ॥४॥

ओ भूः— प्रभु के संरक्षण में मैं "भूः" प्राणशक्ति संपन्न व स्वस्थ बनूं

ओम् भुवः— ,, "भुव" = अवकल्कन = चिन्तन करने वाला ज्ञान संपन्न विचार शील मनुष्य बन पाऊं

ओम् स्वः— ,, "स्वः" स्वयंराजमान = अपने जीवन को नियमित करने वाला (Well Regulated) जितेन्द्रिय बनूं

ओम् महः— ,, "महः" महान् विशाल हृदय वाला होऊं

ओम् जनः— ,, "जन" अपने प्रादुर्भाव व विकास का करने वाला बनूं। सन्तान के रूप में पुनः विकसित होने वाला होऊं

ओम् तपः— ,, "तपः" तपस्वी होऊं

ओम् सत्यम्ः— ,, "सत्यम्" सत्य में स्थिर रहूं

९. प्राणायाम शब्द का अर्थ

'प्राणायाम' शब्द प्राण + आयाम शब्दों से मिल कर बना है। प्राण = जीवन Life, तथा आयाम = दैर्घ्य = विस्तार प्राणायाम शब्द इस विस्तृत जीवन का वाचक है। आयाम शब्द में यम धातु का अर्थ नियन्त्रण व Control भी होता है। सो ठीक २ अर्थ हुवा "विस्तृत नियमित जीवन"। यदि एक मनुष्य का जीवन नियमित होता है तो उस के इस विस्तृत जीवन का कार्य क्रम किस प्रकार होता है यह बात इस मन्त्र में दर्शायी गयी है।

इस कार्य क्रम को समझने के लिये वैदिक संस्कृति के चार आश्रमों का ध्यान कर लेना बड़ा सहायक होगा। वैदिक संस्कृति मानव जीवन को निम्न चार आश्रमों में बांटती है— ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, व सन्यास। ये चार आश्रम = All Round exertion के स्थान हैं। या दूसरे शब्दों में मानव जीवन की चार मंजिलें हैं। इन में से हमने गुज़रना है।

२. पहिली मंजिल

जीवन की पहिली मंजिल (प्रथम प्रयाण) में हमारा पहला कर्तव्य तो स्वस्थ बनना है। अस्वस्थ पुरुष की तो यात्रा रुकी रह जाती है। उसके लिये आगे बढ़ने का संभव नहीं रहता सो एक वैदिक पुरुष स्वास्थ्य के नियमों की ओर सबसे पहले ध्यान देता है। यहां स्वास्थ्य के विस्तृत नियमों का वर्णन करने का स्थान नहीं है, तो भी तीन मुख्य बातों का ध्यान करा देना उचित ही होगा। आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य के तीन आवश्यक नियम निम्न हैं—(१) पौष्टिक आहार का सेवन। भोजन शरीर की पुष्टि के दृष्टिकोण से किया जाय, स्वाद के लिये नहीं। (२) चिन्ता = फिक्र को तिलाञ्जलि दे देना। 'प्रत्येक कार्य के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करना, और किसी भी प्रकार के फल में सन्तुष्ट रहना' यह बेफिक्री का मतलब है। चिन्ता चिता से भी बुरी होती है—यह स्वास्थ्य के लिये सर्वाधिक हानि कर होने से त्याज्य है। (३) तीसरा नियम 'पूरी नींद को लेना है' यह एक रहस्यमय अद्भुत वस्तु है मनुष्य की शक्तियों को यह फिर से तरो ताज़ा कर देती है। नींद के न आने पर शरीर थका सा रहता है और ऐसी स्थिति लगातार रहने पर जीवन

भी शीघ्र ही श्रान्त हो (=थक) जाता है। अच्छी नींद के लिये दिन भर का श्रम बड़ा सहायक होता है।

इन नियमों के पालन से स्वस्थ बन दूसरा प्रयत्न उसका "भुवः" ज्ञान के लिये होता है। ब्रह्मचर्य शब्द का स्थूल अर्थ ही ब्रह्म=ज्ञान का चर=भक्षण है। वास्तव में इस प्रथम मंजिल का केन्द्री भूत कर्तव्य तो है ही यही। इसी के लिये स्वस्थ बनना साधन के रूप में है। और आगे आने वाले दो कर्तव्य इसके फल रूप हैं। उन में पहला तो 'स्वः' जीवन को नियमित करना है और दूसरा है 'महः' हृदय को विशाल बनाना। मूर्खता के साथ अनियमितता= विषय वासनाओं की ओर झुकाव तथा हृदय की संकुचितता (स्वार्थ) का निवास है। ज्ञान के प्रकाश में ये दोनों बातें नष्ट हो जाती हैं। एवं स्वास्थ्य ज्ञान के लिये है और जितेन्द्रियता और विशालता ज्ञान से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार ज्ञान का महत्व होने से पहली मंजिल की ४ बातों में से ज्ञान के आधार से इसका नाम 'ब्रह्म (ज्ञान) चर्य' आश्रम रखा गया है।

३ दूसरी मंजिल

ब्रह्मचर्याश्रम में "स्वास्थ्य, ज्ञान, जितेन्द्रियता व हृदय की विशालता" की साधना कर के यह वैदिक पुरुष जीवन की द्वितीय मंजिल में प्रवेश करता है। इसे गृहस्थाश्रम नाम दिया गया है। इस मंजिल को तय करने के लिये वह अपने जीवन का एक संगी चुनता है। इसे ही पाणि ग्रहण करना कहते हैं। वह गृहस्थ क्यों बनता है: इसका उत्तर जनः शब्द दे रहा हैं। जनः का अर्थ प्रादुर्भाव है। वह यह समझता है कि यह शरीर तो

सदा रहेगा नहीं। सो अमर रहने के लिये वह एक सुन्दर ढंग सोच लेता है और वेद के "प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम" वाक्य के अनुसार सन्तान के रूप में शरीर छोड़ने के बाद भी जीवित ही रह जाता है। और फिर सन्तान के संतान के रूप में चलता ही रहता है। नष्ट नहीं होता। इस प्रकार इस गृहस्थ का उसका एक मात्र उद्देश्य जनः Procreation संतान के रूप में उत्पन्न होना ही होता है। विषय वासना की गन्ध उसे छू नहीं जाती उसे वह अधर्म्य समझता है। प्रजन=सन्तानोत्पत्ति करने वाला काम पुरुषार्थ है। वासनात्मक काम प्रधान शत्रु है। यह वैदिक पुरुष प्रथमाश्रम में जितेन्द्रियता की साधना करके इस आश्रम में प्रविष्ट हुआ है सो वह इस शत्रु का शिकार नहीं होजाता शिकार होना तो दूर रहा, वह तो जनः = सन्तानोत्पत्ति का उद्देश्य पूरा होने पर सन्तान होते ही अपने इस कर्तव्य से मुक्त हो, आगे बढ़ चलता है।

४, तीसरी मंजिल

मानव जीवन की तीसरी मंजिल वानप्रस्थ आश्रम है। गृहस्थ के वातावरण में थोड़ी बहुत ममता आदि का मल उत्पन्न हो ही जाता है।। ब्रह्मचर्य में चर=चलना था, वानप्रस्थ में प्रस्थान चलना है, सन्यासी तो परिव्राट्= सर्वत्र जा ही रहा है। एक गृहस्थ ही स्था=कुछ ठहरने का स्थान है। ठहरे पत्थर पर पानी में भी काई जम ही जाती है, इसी प्रकार गृहस्थ में थोड़े बहुत मल का संभव हो ही जाता है। इस मल का दूरीकरण 'तपः' ने करना है। गरम पानी वस्त्र की सारी चिकनाई को धो देता है ठीक इसी प्रकार तप जीवन की मलिनता को नष्ट कर

देता है।

५. प्राणायाम ही तप है

रेचक पूरक आदि विधियों से वश में किया हुवा प्राण शरीर की मलिनताओं को नष्ट कर जहां शरीर को नीरोग बनाता है वहां "दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्" इस मनु वाक्य के अनुसार तप्त धातुओं के मलों के नाश की तरह प्राण निग्रह से इन्द्रियों के भी दोष दूर हो जाते हैं। यह अनुभव लेकर देखा जा सकता हैं कि मन के अंदर किसी बुरी भावना के आने पर दीर्घश्वास लेने से वह दूर हो जाती है। एवं प्राणायाम मानस पवित्रता का भी साधन बनता हैं। "ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः" इन योग के शब्दों में प्राणायाम से ज्ञान दीप्ति का वर्णन कर बुद्धि की निर्मलता व तीव्रता की सूचना हुई है। वस्तुतः प्राणायाम शरीर इन्द्रिय मन व बुद्धि सभी को निर्मल कर मनुष्य को पवित्र बना देता हैं। एवं यह 'परम तप, माना गया है। इसे सभी आश्रमियों ने करना हैं। विशेषतः गृहस्थ के मल को दूर करने के लिये वनस्थ ने इस पर अधिक ध्यान देना है।

६. चौथी मंजिल

तपस्या से अपने को पवित्र बना कर वह जीवन की अँतिम मँजिल में प्रवेश करता है। तपस्या से पूर्ण पवित्र हो, सभी संगों से रहित होकर, वह "सत्यम्" = पूर्ण सत्य को ही अपना ध्येय बनाता है। सभी का हितेच्छु होने से और किसी में भी किसी प्रयोजन के अटकाव न होने से यह 'सत्य' बोलने के लिये अपने को अधिक योग्य बना पाता है। परमेश्वर पूर्ण सत्य है।

सत्य सोचता हुवा सत्य बोलता हुवा और सत्य ही करता हुवा यह भी उस के समीप पहुँच रहा होता है। उस के समीप पहुँचना ही तो इस जीवन का उद्देश्य है। इसी प्रकार हमारी जीवनयात्रा पूर्ण सफल हो पाती है।

७. एक चित्र

प्राणायाम मन्त्र के ये 'भू' आदि शब्द व्याहृति = कथन कहलाते हैं। प्रभुने मानों मनुष्य को जीवन यात्राके प्रारम्भ में इन शब्दों से उस के कर्तव्य का सँकेत किया था। ये शब्द यदि निम्न चित्र में लिखे जांय तो देखिये कि ये कितनी सुन्दर भावनाओं के व्यञ्जक (बोधक) हैं:—
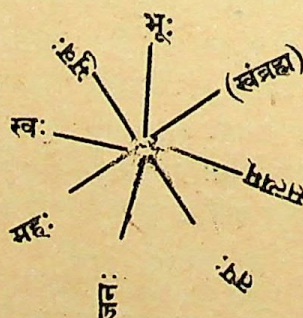
१. भूः का दूसरा पार्श्व जनः है। अर्थात् उत्तम स्वास्थ्य वाला, प्रणशक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही जनः = Proercation के लिये गृहस्थ में जाने का अधिकारी है। "पत्नी वृषणो जगम्युः" १,१७६,१ में यही कहा है कि शक्तिशाली पुरुष ही पत्नियों से सँगत हों। इस नियम के होने पर एक राष्ट्र में निर्बल व्यक्ति

रहेगा ही नहीं।

२, भुवः का दूसरा पार्श्व तप है। तपस्या के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं। "कुतो विद्यार्थिनः सुखम्" विद्यार्थी का आराम से क्या मतलब। विद्यार्थी का जीवन बड़ा तपस्वी जीवन होना चाहिये। प्राचीन काल के शिक्षणालय इसी आदर्श पर चलते थे। राष्ट्र की उन्नति के लिये अब भी इस दिशा में ध्यान देना ही होगा।

(३) स्वः का दूसरा पार्श्व सत्यम् है। जितेन्द्रियता ही सत्य है। इन्द्रियों के वश में होकर जो कुछ किया जाय वह सब असत्य है।

(४) महः का दूसरा पार्श्व ब्रह्म है। अर्थात् महान् बनना ही ब्रह्म की ओर जाना है। ब्रह्म सबसे महान् है, जो जितना महान् बनने का प्रयत्न करता है उतना ही ब्रह्मरूप हो रहा होता है। महान् विशाल हृदय में रागद्वेष न रह सब के प्रति समान रूप से प्रीति होती है और उपनिषद् के निर्दोषं हि समंब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः" वाक्य के अनुसार यह विशाल हृदय पुरुष समान भाव से वर्तता हुआ 'निर्दोष सम, ब्रह्म में स्थित होता है।

प्राणायाम मन्त्र की इन चारों भावनाओं को न भूलते हुए अब हम पापों को पूर्ण रूप से कुचलने के लिये तैयार होकर अघमर्षण मन्त्र का विचार करें:—

❀ पंचम मन्त्र ❀

सृष्टि स्थिति व प्रलय

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋतं = प्राकृतिक नियम, च = और

सत्यम् = जीव सम्बन्धी नियम

अभि + इद्धात् = सर्वतः देदीप्यमान

तपसः = ज्ञान (ज्ञानमय प्रभु) से

अधि + अजायत = उत्पन्न हो गये

ततः = इन नियमों के (अर्थात् सृष्टि की आयोजना) बन जाने के पश्चात्

रात्रिः = अंधकारमय प्रकृति

अजायत = सृष्टि रूप में विकसित (Evolve) हो गई। (और यह प्रक्रिया इस प्रकार हुई कि—)

ततः, समुद्रः = तब, प्रकृतिस्थ अणु समुद्र या प्रकृति रूप शुक्ल मेघ पटल (Nebula)

अर्णवः = गतिमय हो गया

समुद्राद्, अर्णवात्, अधि = Nebula के, गतिमय होने के, साथ ही

संवत्सरः, अजायत = काल की कल्पना (= रचना) हो गई।

(इस काल कल्पना को स्पष्ट करने के लिए—)

अहोरात्राणि = दिन और रात को

विदधत् = बनाने के (हेतु से =) लिये

मिषतः, विश्वस्य = गतिमय व्यापक अणु समुद्र के

वशी = वश में करने वाले, और

धाता = धारण पोषण (= विकास) करने वाले उस प्रभु ने

यथापूर्वम् = पिछली सृष्टि के अनुसार ही

सूर्याचन्द्रमसौ = सूर्य और चन्द्रमा को

अकल्पयत् = बना दिया, च = तथा

दिवम्, पृथिवीं, अन्तरिक्षञ्च = द्युलोक पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक

अथो = और। (उस द्युलोक पृष्ठ पर—)

स्वः = स्वर्गलोक को भी, उस प्रभु ने बनाया।

एवं इस मन्त्र में सृष्टि की यथा पूर्व उत्पत्ति का वर्णन है। प्रकृति से वह प्रभु जीव के हित के लिये इसका निर्माण

करता है। उसमें जीव किस प्रकार विचारशील बनकर चले कि 'उसकी उन्नति के स्थान में अवनति न हो जाय' यह बात इस मन्त्र में कही गई है। इसे नीचे की व्याख्या में देखिये—

१. उत्पत्ति की आयोजना (Plan)

उस प्रभु के "अभि+इद्धात्" सर्वतो देदीप्यमान "तपसः" तप से=ज्ञान से (यस्य ज्ञानमयं तपः=जिस का तप ज्ञान रूप है) "ऋतंच सत्यञ्च" ऋत और सत्य 'अधि अजायत= उत्पन्न हुए।

यहां मन्त्र वाक्य में यद्यपि अर्थ करते समय 'उस प्रभु के तप ज्ञान से' ऐसा अर्थ किया गया है, पर वास्तव में ठीक अर्थ 'सर्वतो देदीप्यमान तप=ज्ञान से' इतना ही है। 'प्रभु के तप से' इस अर्थ में 'प्रभु और उसका तप' दो अर्थ कहे जाते हैं और 'तप से' इस अर्थ में केवल तप का ही उल्लेख होता है। इस प्रकार इन अर्थों में भेद तो प्रतीत होता है, पर वस्तुतः भेद है नहीं। परमात्मा ज्ञान से पृथक् नहीं है। 'तन्निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्' इस योग सूत्र के अनुसार ज्ञान की चरम (अंतिम=Highest) सीमा ही वह प्रभु है। वह ज्ञानमय है। वेदांत के अनुसार ज्ञान रूप गुण का आधार न होकर वह ज्ञान रूप ही है। 'God is Light' ये St. John के शब्द भी इसी वेदांत भावना का अनुवाद कर रहे हैं। उस प्रभु का ज्ञान य ज्ञान रूप वह प्रभु सब ओर से चमकता हुआ है, देदीप्यमान है। गीता के शब्दों में तो हज़ारों सूर्यों की प्रभा के समान वह चमक रहा है।

उस ज्ञानरूप परमेश्वर ने सृष्टि के निर्माण के प्रारम्भ में ऋत और सत्य को उत्पन्न किया। प्रकृति=Nature के साथ सम्बद्ध Laws=नियम ही ऋत हैं, और जीव=Soul के साथ सम्बद्ध नियम ही सत्य हैं। परमात्मा बनाने वाला है, प्रकृति ने विकृत होकर संसार के रूप में आना है और जीव के लिये इस सृष्टि की रचना होनी है। सो 'ऋत' और 'सत्य' की ही अपेक्षा है, किन्हीं तीसरे प्रकार के नियमों की आवश्यकता नहीं। एवं इन दोनों नियमों के बनाने का अभिप्राय यह है कि उस प्रभु ने सृष्टि निर्माण की Plan (आयोजना) को तैयार किया। जड़ जगत् के लिये ऋत और चेतन जगत् के लिये सत्य का निर्धारण किया।

२. उसने चाहा और हो गया

इस Plan की तैयारी में कोई समय लगा हो ऐसी बात नहीं। हमें अल्पज्ञता के कारण विचार में, ऊहापोह=Pros and cons के सोचने में समय लगता है। और यह स्पष्ट है कि जितना ज्ञान अधिक व पूर्णता को लिये हुए होता है, उतना ही समय कम अपेक्षित होता है। परमेश्वर का ज्ञान तो एकदम पूर्ण होता है सो उसे कम-से-कम समय लगता है। ठीक-ठीक तो यह है कि उसे शून्य समय लगता है। वह तो चाहता है और Plan तैयार हो जाती है। बाईबल में यही भावना And God said 'Let there be light and there was light' इन शब्दों से व्यक्त की गई है। उपनिषद् इसी बात को 'तदैक्षत बहुस्यां पजायेय' इन शब्दों में इस प्रकार कहती है कि उसने ईक्षण= विचार किया और यह सब हो गया।

वस्तुतः इस मन्त्र में भी 'अधि' का प्रयोग इस ही बात को कहता है कि 'तपसः अधि' = ज्ञान के साथ ही, न कि ज्ञान के बाद। अधि का ही विकार English में at है। At का अर्थ है पर, न कि पीछे। ज्यूंही उसने तप किया अर्थात् विचारा त्यूंही ये ऋत और सत्य बन गये।

३. अणु समुद्र में संक्षोभ

ततः = Plan के तैयार होते ही, उसके अनुसार, समुद्रः = वह अन्तरिक्ष में स्थित समुद्र = nebula = शुक्ल मेघपटल = Homogenous (एकरस = समावस्था) रूप से फैला हुआ प्रकृतितत्व (१)अर्णवः = प्रगतिशील हुवा। उसमें हलचल पैदा हो गई। और इस प्रकार रात्रि प्रजात हो गई अर्थात् अन्धकारमय अव्यक्त प्रकृति रूप माता ने महत्तत्वरूप सन्तान को पैदा कर दिया। गीता में कहा है कि "ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं-दधाम्यहम्" "सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्तियाः। तासां ब्रह्म महद्योनिः अहं बीजप्रदः पिता"। काव्य के शब्दों में प्रकृति महत्तत्व की माता है, परमेश्वर पिता है।

सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व अन्धकार ही अन्धकार होने से प्रकृति को यहां रात्रि कहा गया है। दिन और रात में रात को तमस्विनी-या तमी = अन्धकार वाली कहा गया है, परंतु उस प्रलयकाल में तो मानो अंधकार ही मूर्त होकर आजाता है। सो उस समय प्रकृतितत्व को तम या रात्री यह नाम दिया गया है।

उस समय 'तम आसीत् तमसागूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वम्

* १ अर्णवः—ऋगतौ धातु से असुन् प्रत्यय होकर अर्णस् = गति। उस वाला अर्थात् गतिमय = अर्णवः।

आहदम्' = यह तमरूप = रात्रिरूप प्रकृतितत्व अंधकार से आच्छादित था। प्रकृतितत्व उस समय एकदम जड़ (निश्चेष्ट) अवस्था में होने से तम नाम से कहा गया। यह उस समय अप्रकेत = अज्ञायमान था। यह सारा प्रकृतितत्व सलिल = सलिल = जल = एक शुक्लमेघपटल सा था। यह उस समय Latent प्रसुप्त गति वाला था (सलति = गच्छति)।

इसके बाद, उस ज्ञानमय परमेश्वर की Plan बन जाने पर, जब यह रात्रि प्रजात हुई तो वह समुद्र = nebula अर्णवः = गतिमय होगया। इसकी यह प्रसुप्त = Latent गति, patent = जागरित होगई। Potential सत्ता active सत्ता के रूप में होगई। covert = संवृत गति overt विवृत होगई।

४. काल की कल्पना

प्रलय काल में तो 'प्रसुप्तमिवसर्वतः' इन मनु के शब्दों में सब सोया हुवा सा था। सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के ईक्षण से इन प्रकृति के कणों में हलचल पैदा हुई। और अब क्रिया के प्रारम्भ होने पर क्रियांशों को व्यवहार में सूचित करने के लिये उस गतिशील समुद्र के 'अधि' = ऊपर अर्थात् उसके साथ ही संवत्सर = काल की कल्पना हुई।

यह काल, दार्शनिक दृष्टि से, व्यवहार संचालन के लिये ही है। यह कोई material = प्राकृतिक वस्तु नहीं, नांही यह आत्मतत्व है। यह प्रकृति और आत्मा दोनों से भिन्न एक काल्पनिक चीज़ है। यह गतिमय अणु समुद्र से न बन कर उसी समय = उसके गतिमय होते ही कल्पित होगया।

इसी भावना को अधि = at (न कि बाद) इस उपसर्ग से स्पष्ट किया गया है।

प्रसंग वश इस दार्शनिक सिद्धान्त का संकेत कर देना ठीक ही है कि काल दिशा तथा आकाश ये तीन Material वस्तु न होकर केवल व्यावहारिक सत्ता ही रखते हैं।

५. सूर्य और चन्द्र

ऊपर कही गयी काल कल्पना को ही स्पष्ट करने के लिये "मिषतः" = गति करते हुवे "विश्वस्य" व्यापक समुद्र = Netula को 'वशी' २ पूर्ण रूप से अपने वश में रखने वाले, तथा "धाता" उसका धारण पोषण अर्थात् क्रमिक विकास करने वाले उस परमेश्वर ने दिन रात को विदधत् = बनाने के हेतु से "यथापूर्वम्' पूर्व सृष्टि के अनुसार 'सूर्या चन्द्रमसौ' = सूर्य और चांद को अकल्पयत् = बनाया

यहां मन्त्र में विदधत् रूप वि पूर्वक धा धातु से हेतु अर्थात् प्रयोजन अर्थ में शतृ प्रत्यय करके बना है। पाणिनि ने "लक्षण हेत्वोः क्रियायाः' इन शब्दों में इस नियम का उल्लेख किया है कि लक्षण तथा प्रयोजन अर्थ में धातु से शतृ प्रत्यय आजाय। इस नियम का प्रसिद्ध उदारहण है **अधीयानो वसति** पढ़ने के लिये रहता है। इस प्रकार **यहां मन्त्र में** 'विदधत् अकल्पयत्' = काल की स्पष्ट कल्पना के लिये **सूर्य** चन्द्र को बनाया।

इस वाक्य में 'यथापूर्वम्' शब्द भी बड़ा महत्व पूर्ण है। सूर्य चन्द्र आदि को परमेश्वर ने जैसा पिछली **सृष्टि में** बनाय

था, इस सृष्टि में भी वैसा ही बनाया। मनुष्य अनुभव से अपने कार्यों में परिवर्तन करता हुवा उन्हें अधिकाधिक अच्छा बनाने में प्रयत्नशील रहता है। परन्तु परमेश्वर की रचना उसके पूर्ण ज्ञानमय होने से पूर्ण ही होती है, न्यून नहीं, सो उसमें परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं होती। "पूर्णमदः पूर्णमिदम्' वह प्रभु पूर्ण है, उसकी यह रचना भी पूर्ण है। "पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते,,= पूर्ण से पूर्ण ही रचना का निर्माण होता है। वस्तुतः संसार, जिस उद्देश्य से बनाया गया है उस उद्देश्य के दृष्टि कोण से, पूर्ण है। उस में किसी न्यूनता को दूर कर परिष्कार का संभव नहीं।

६. अन्य लोक लोकान्तर

अब उसी Nebula से भिन्न २ लोकों की, उस उस समय में, उत्पत्ति हो गई। जहां कि मुख्य देवता सूर्य है, वह स्थान द्युलोक (= प्रकाश मय जगमगाता हुवा लोक) कहलाया। उधर यह मर्त्यों = मरण धर्मा प्राणियों के चलने फिरने के लिये विस्तृत लोक बना। फैला हुवा होने से इस का नाम पृथिवी हुवा (प्रथ विस्तारे)। इन दोनों के मध्य में रहने से मध्यस्थ लोक अन्तरिक्ष कहलाया (अन्तरा + क्षि = बीच में रहना) और द्युलोक के पृष्ठ पर स्वः = स्वर्गलोक का निर्माण हुवा! "दिवो नाकस्य पृष्ठात्" इस मन्त्र भाग में द्युलोक को नाक = स्वर्ग-लोक का पृष्ठ Floor कहा है। (क = सुख, न+क = अक = दुःख, न अक = नहीं दुःख अर्थात् जहां सुख ही सुख है वह स्वर्ग लोक 'नाक' है)।

७. अघ—मर्षण

इस मन्त्र में आया 'यथापूर्व, शब्द इन लोक लोकान्तरों के बारम्बार बनने व बिगड़ने की भावना को व्यक्त कर रहा है। यह सृष्टि इस से पूर्व भी थी, इस सृष्टि की प्रलय के बाद फिर भी सृष्टि होगी। सृष्टि और प्रलय का चक्र (सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि) अनादि हैं। अनादि काल से यह चला आ रहा है, अनन्त काल तक चलता जायगा। शतशः बार इसका प्रभव हुआ, और हो होकर यह प्रलीन होती रही है। और आगे भी ऐसी होती रहेगी। इस प्रकार यह सृष्टि पैदा हो हो कर नष्ट हो जाने वाली चीज है। संक्षेप में यह नश्वर है। वैदिक साहित्य में इस संसार रूप वृक्ष को अश्वत्थ, कहा है— "अश्वत्थे वो निषदनम्" । यह 'नश्वः तिष्ठति, = कल नहीं रहता। इसका यह स्वभाव ही है कि आज है और कल नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी भी सांसारिक वस्तु के साथ लगाव attachment दुःख का ही कारण बनेगा। चूंकि उस वस्तु ने सदैव हमारे साथ बने नहीं रहना। सब सांसारिक विषय नश्वर हैं, इन्द्रियां भी सदा रहने वाली नहीं। यह नापे जाने वाले विषय तथा मापने वाली इन्द्रियां दोनों ही मात्रा नाम से कहे जाते हैं। इनके परस्पर संपर्क को गीता में मात्रा स्पर्श कहा गया है। ये मात्रा स्पर्श आगम और अपाय वाले हैं। सदा बने रहने वाले नहीं। उन्होंने चिर तक ठहर कर भी अन्त में जाना ही है, उस समय वियोग में दुख होगा। सो उनके स्वयं ही छोड़ देने में ही कल्याण है।

उल्लिखित भावना के दृढ़ होने पर मनुष्य का हृदय मधुर दैवी भावनाओं से पूर्ण होने लगता है। विषय वासनायें उसे रुचती ही नहीं, उनके साधनों को बटोरने के लिये अन्याय्य मार्ग की ओर जाने का झुकाव ही समाप्त हो जाता है। काम का स्थान सभी के प्रति मित्रता ले लेती है। क्रोध के स्थान में करुणा का राज्य हो जाता है। मात्सर्य दूर होकर औरों के उत्कर्ष में वह मुदिता=प्रसन्नता को अनुभव करने लगता है। अपनी उन्नति के मद में चूर न होकर वह औरों की कमियों की उपेक्षा करने वाला बनता है। इस प्रकार इसकी सभी भावनायें (छन्दस्) मिठास (मधु) से भरी होती हैं। इसका नाम ही 'माधुच्छन्दस' हो जाता है। माधुच्छन्दस बनते हुए उसने पाप प्रवृत्तियों को तो कुचल ही डाला है। उसके कुचले बिना माधुच्छन्दस बनने का संभव ही न था। सो यह 'अघ-मर्षण' नाम वाला हुवा अर्थात् वह व्यक्ति जिसने आसुरी प्रवृत्तियों को मसल मसल के समाप्त कर दिया है।

८. मृत्यु का स्मरण

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' मृत्यु से बालों में पकड़े हुए के समान धर्म को करे यह उक्ति ठीक ही है। मृत्यु का विस्मरण हो जाने पर ही मनुष्य विषय वासनाओं का शिकार हो जाया करता है। सो मृत्यु का स्मरण मनुष्य को धर्म के मार्ग पर दृढ़ करने वाला होता है यह उसे विषयों के संग्रह की तुच्छता का भान कराता रहता है। बुद्ध को इसी दृश्य ने बुद्ध=ज्ञानी बना दिया। आचार्य दयानन्द को प्रिय बहिन व

चाचा की मृत्यु के दृश्य ही लोकोत्तर मार्ग पर ले जाने वाले हुए। सन्त कबीर किसी भी अर्थी के साथ श्मशान तक जाते थे और कहा करते थे कि यही मृत्यु का स्मरण करा उन्हें ठीक मार्ग पर दृढ़ रहने में सहायक होते हैं। गुरु एकनाथ ने अपने एक भक्त को वासनाओं से आक्रान्त न होने का एक मात्र साधन मृत्यु का स्मरण ही बतलाया था नल दमयन्ती के उपाख्यान में यम (मृत्युदेव) का वर यही है कि 'यमस्त्वन्नरसे प्रादात् धर्मे चैवस्थिरां मतिम्' अर्थात् तुम्हें अन्न और रस की कमी न होगी और धर्म में तुम्हारी बुद्धि स्थिर रहेगी। वस्तुतः प्रकृति का विज्ञान यदि एक वह अद्भुत शक्ति है जो कि हमें प्रकृति से विविध सुख साधनों को प्राप्त करने के योग्य बनाती है। तो मृत्यु का स्मरण वह साधन है जो कि हमें उनके अतिप्रयोग में फंसने से बचाता है।

ज्ञान एक शक्ति है जो हमारे जीवन यन्त्र को बड़ी तेज़ी से आगे ले चलता है और मृत्यु का स्मरण वह ब्रेक है जो उसे मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। प्रस्तुत मन्त्र पुनः पुनः उत्पत्ति विनाश का वर्णन करता हुवा इस नश्वरता का स्मरण कराता है; और इस प्रकार हमारे जीवनयन्त्र को मार्गभ्रष्ट हो नष्ट होने से बचाता है। इस लिये इस मन्त्र का नाम ही अघमर्षण हो गया है।

यहां तक हम ब्रह्मचर्याश्रम की अपनी साधना को पूरा कर अब संसार में प्रविष्ट होते हैं। उस द्वितीयाश्रम में हमारा सदा क्या ध्येय रहना चाहिये यह मनसा परिक्रमा मन्त्रों में जिस सौन्दर्य से वर्णित हुवा है उसे अब देखिये:—

षष्ठम मंत्र

पूर्व दिशा का उपदेश (Sermon of the east)

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्य इषवः ।

प्रची दिक्— यह पूर्व दिशा आगे बढ़ने का संकेत करती है
(दिश् = To indicate)

अग्निः अधिपतिः— इस दिशा के अधिपति माता पिता
आचार्य रूप अग्नि हैं

असितः— जो (अ—नहीं सित =बद्ध) विषयों से जकड़ा
नहीं गया, वही

रक्षिता— इस अग्रगति का रक्षक होता है। और

आदित्यः—(अपने मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता हुआ) सूर्य

इषवः-इस अग्रगति के मार्ग पर, प्रेरणा देन वाला है (इषप्रेरणे)

१. आगे बढ़ना

अघमर्षण मँत्रों के अनन्तर सँध्या में परिक्रमा मँत्रों का स्थान है । इन में भिन्न भिन्न दिशाओं के नामों से गुणों के विकास का क्रम उल्लिखित हुवा है । एक उपासक उस २ दिशा की ओर मुख करके उस से सूचित गुण को अपने में विकसित करने का संकल्प करता है । वस्तुतः 'परिक्रम' का अर्थ 'चारों ओर घूमना' न करके क्रम =Order, series=सिल सिला ही यहां करना चाहिये । ये मन्त्र हमें बतलाते हैं कि किस क्रम

में एक व्यक्ति के अन्दर गुणों का विकास होना चाहिये।

सर्व प्रथम 'प्राची दिक्' है। 'प्राची' शब्द प्र पूर्वक अन्चु धातु से बना है। प्र = आ। अञ्चु = गति। अग्रगति = Progress = आगे बढ़ने का संकेत कर रही है। दिश् शब्द अंग्रेजी के Indicate शब्द में दिख रहा है; इसके अन्दर indication संकेत की ही भावना है। एक व्यक्ति ने आगे ही आगे बढ़ना है। 'आगे बढ़ना' यह व्यक्ति मात्र का Motto लक्ष्य वाक्य होना चाहिये। एक ब्राह्मण प्रतिदिन सायँ पड़ताल करे कि ज्ञान के क्षेत्र में कल से आज वह कुछ आगे बढ़ा है या नहीं इसी प्रकार एक क्षत्रिय बल के दृष्टिकोण से औरों को क्षत (हानि) से बचाने की क्षमता को बढ़ा हुआ देखने का प्रयत्न करे। एक वैश्य धन धान्य को बढ़ाने की अपनी क्रियाशीलता को बढ़ता हुवा देखने का ध्यान करे।

'आगे बढ़ो' इस लक्ष्य का होना इसलिये आवश्यक है कि इस संसार में यह नियम है कि आगे बढ़ो या पीछे हटो। 'ठहरना' यहां संभव नहीं। आगे या पीछे चलना ही संसार का नियम है। सो हम आगे नहीं बढ़ेंगे तो अवश्य ही नियमानुसार पीछे हट जायेंगे।

प्रातः काल पूर्व दिशा से उदय होता हुवा सूर्य निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। इसी लिये इस दिशा का नाम 'प्राची' पड़ा है। आगे बढ़ा हुवा सूर्य हमें भी आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। यह बात मन्त्र के अन्तिम वाक्य में विस्तार से देखेंगे। 'आगे बढ़ो' इस लक्ष्य वाक्य में ही उत्साह, प्रयत्न व वीरता की भावनायें भरी हुई हैं। मनुष्य ने पैदा होते ही, जब यह बालक ही है तभी से आगे और आगे बढ़ना है।

२. तीन अग्नियां

इस आगे बढ़ने के कार्य में उस बालक का सहायक 'अग्नि' =अग्रे-णीः=आगे ले चलने वाला ही अग्रगति का अधिपति =Master हैं। यह आगे ले चलने वाली अग्नियां 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस शतपथ वाक्य के अनुसार प्रशस्त माता पिता व आचार्य ही हैं। इन्होंने ही वस्तुतः उस अबोध बालक को सुबोध बनाना है।

मनु ने २. २३६ में 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निः माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी' इन शब्दों में कहा है कि पिता ही गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि और आचार्य आहवनीय। ये तीन अग्नियां, बाह्य अग्नियों से उत्कृष्ट हैं। ये माता पिता व आचार्य स्वयं अग्रगति कर चुके होंगे उस अग्रगति के अधिपति बन चुके होंगे, तभी ये अपने उदाहरण व उपदेश से दूसरों की भी अग्रगति के साधक होसकेंगे।

सबसे छोटी उमर में जब कि बच्चा कुछ भी समझता नहीं उस समय उसको समझाना उसके अन्दर उत्तम गुणों का विकास करना सब से अधिक कठिन कार्य है। उसके लिये उस अग्नि को (आगे ले चलने वाले को) अधिक से अधिक निपुण (dexeterous) दक्ष होना चाहिये। उदाहरणार्थ :—बच्चे के अंदर बदला लेने revenge की भावना न पैदा होकर सहानुभूति fellow-feeling की भावना को पैदा करने के लिये एक माता जिस मेज़ से बच्चा टकराया है उस मेज़ को भी बच्चे के सामने मल देगी ताकि बच्चा अनुभव करे कि मलने से जैसे उसे आराम पहुँचा है उसी प्रकार मेज़ को भी =दूसरे

को भी आराम पहुँचाना उसका कर्तव्य है। यदि माता ऐसा न करके बच्चे को चुप कराने के लिये, उसकी बदला लेने की भावना का लाभ उठाती हुई, मेज़ को एक चोट लगादेगी तो बच्चा चुप तो हो जायगा परन्तु ज़रा सा बड़ा होकर गलियों में और बच्चों के साथ खेलते समय किसी से भी टकरा जाने पर एक दम उस पर प्रहार करने को दौड़ेगा। सभी बच्चे जब इसी प्रकार का पाठ पढ़ते हैं तो फिर यही प्रवृत्ति बड़े होने के साथ बढ़कर परस्पर लड़ने झगड़ने का रूप धारण कर लेती हैं। जातीय युद्धों का मूल भी यही मेज़ पर लगाई चपेट ही होती है। माता ने नासमझी से भविष्य में होने वाले भयंकर परिणामों को न सोच कर केवल तात्कालिक लाभ को ही देखा।

बच्चे ने तो सब कुछ अनुकरण से सीखना है। जैसा देखेगा वैसा ही वह करेगा। सो माता को तो उस मौके पर कैसे बर्तना कि 'बच्चा उत्तम पाठ ही पढ़े, किसी प्रकार उस पर कुसंस्कार न अंकित हो' इस बात में भिन्न २ उपाय सोचने में बड़ा प्रवीण Competent होना चाहिये। इसी लिये मनु ने इस मातृ रूप अग्नि को 'दक्षिण' नाम दिया है।

३. उत्तम गृहपति

इसके बाद जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है और पिता के साथ भिन्न २ सभादि स्थलों में आने जाने लगता है, तब पिता ने उसे सब प्रकार के गृह व्यवहारों की उत्तम शिक्षा देकर सभ्यता = Good behaviour = शिष्टाचार का पाठ पढ़ा कर गृहपति बनाना है। गृहपति से अभिप्राय यहां घर में व्यक्तियों के साथ बर्तने के ढंग को अच्छी तरह समझने वाले से ही है।

यदि पिता स्वयं एक Perfect gentelman = पूर्णभद्र पुरुष होगा तभी वह उस बच्चे को भी एक उत्तम गृहपति बना सकेगा।

मनु ने पितृ रूप अग्नि को गार्हपत्याग्नि नाम दिया है। पिता स्वयं गृहपति हो—अतिथियज्ञ (= Hospitality) का मूर्त रूप हो। आये गये के लिये उसके घर में बैठने के लिये आसन जल तथा मधुरवाणी व सादे भोजन की कभी कमी न हो। इस प्रकार स्वयं उत्तम गृहपति बना हुवा पिता ही बच्चे को भी एक अच्छा गृहपति बना सकेगा।

४. आचार्य कुल में बुलावा

तैत्तिरीय उपनिषद् के "दमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा शमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा'' इस वाक्य के अनुसार, ऊपर कहे गये सभ्य सुशील शान्त बालकों को आचार्य अपने कुल में पढ़ने के लिये बुलाते हैं। इस आहवन के कारण ही मनु ने आचार्य को आहवनीयाग्नि कहा है।

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्' इन अथर्व के शब्दों के अनुसार पढ़ने पढ़ाने का नियम यह होना चाहिये कि आचार्य अपने स्थान पर बैठे हों विद्यार्थी द्वार पर आकर आचार्य को पुकारे कि मैं पढ़ने के लिये आना चाहता हूँ इसके बाद आचार्य उन्हें अपने समीप बुलाये और अध्ययन प्रारम्भ कराये। आजकल शिक्षणालयों में 'विद्यार्थी एक निश्चित कमरे में बैठ जाते हैं और अध्यापक उन के समीप आते रहते हैं' यह प्रथा इस लिये ठीक नहीं कि यह नम्रता का पाठ पढ़ाने वाली नहीं। आचार्य आहवनीय अग्नि बना रहे यही ठीक है। अस्तु,

५. युवा, गृहपति, कवि

ये तीनों अग्नियां जितने अंश में अग्र-नेतृत्व के अधिपति होंगे, उतना ही बालक को आगे ले चलने में समर्थ होंगे। वस्तुतः 'अग्निनाग्निः समिध्यते कवि गृहपतिर्युवा' इस वेद मन्त्र के अनुसार मातृरूप अग्नि से दीप्त होकर बालक रूप अग्नि—'युवा' बनती है। युवा शब्द यु धातु से बना है, इसका अर्थ मिश्रण तथा अमिश्रण है। 'सं मा भद्रेण पृङ्क्त, वि मा पाप्मना पृङ्क्त, इन वेद शब्दों के अनुसार माता ने उसे शुभ से मिश्रित युक्त करना है, और पाप से अमिश्रित, पृथक् करना है। माता ही उस के अन्दर उत्तम प्रवृत्तियों का निर्माण करने वाली है।

इस के बाद पितृरूप अग्नि न उसे गृहपति बनाना है। शिष्टाचार के सभी उत्तम नियमों को पिता ने उसके स्वभाव में ढाल देना है। अन्त में आचार्य रूप अग्नि में पक कर वह परिपक्व ज्ञान वाला कवि बनता है। कवि क्रान्तदर्शी है। वस्तुओं के तत्व को समझता है। ब्रह्मचर्य सूक्त में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है कि ज्ञानाग्नि की पहिली समिधा पथिवी है, दूसरी अन्तरिक्ष तथा तीसरी द्युलोक। अर्थात् आचार्य ने ब्रह्मचारी को तीनों लोकों के पदार्थों का ज्ञान देना है। वह उसे वस्तुतत्व को समझाने वाला कवि बना देता है।

माता बालक में वैयक्तिक गुणों को, पिता सामाजिक गुणों को तथा आचार्य ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ये तीनों अग्नियां, जो कि अग्रगति की अधिपति हैं, बालक को आगे और आगे ले चलती है, उसकी Progress का कारण बनती हैं।

६. उन्नति का रक्षक

पर वह बालक जो अग्रगति करते हुए युवा, गृहपति, व कवि (धर्मनिष्ठ, सदाचारी व विद्वान्) बना है, वह अपनी इस अग्रगति को सुरक्षित तभी रख सकता है यदि वह 'असित' बने। "असितो रक्षिता" असित ही इस दिशा का रक्षक है । षिञ् बन्धने से सित शब्द बनता है, इस का अर्थ है 'बद्ध' । न+सित = असित, अर्थात् अबद्ध । जो इस अग्रगति के मार्ग पर चलता हुवा प्रमादवश विषयों से बद्ध नहीं होजाता, वही अपनी अग्रगति को कायम रख पाता है । ये विषय विषय इस लिये कहाते हैं कि ये 'विशेषेण सिनन्ति' बुरी तरह से जकड़ लेते हैं। मनु ने इन्हें 'दुरन्त' कहा है, जिनका अन्त बड़ी कठिनता से होता है । एक बार इन में फंस जाने पर ये जकड़ लेते हैं । आर्तभाग के प्रश्न के उत्तर में याज्ञ वल्क्य ने इन्हें 'अतिग्रह कहा है = बड़ी मज़बूती से काबू करने वाले । जो व्यक्ति इन अतिग्रहों की जकड़ में आगया, उसकी अग्रगति समाप्त । व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी यदि परतन्त्र = बद्ध हुवा तो उसकी उन्नति भी समाप्त होजाती है । परतंत्र राष्ट्र के अग्रेसर होने की बात तो दूर रही वह बड़ा पछड़ जाता है । उसमें शतशः सामाजिक कुरीतियां उत्पन्न होजाती हैं । आचार्य दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में सभी सामाजिक कुरीतियों को परतन्त्रता मूलक ही मानते हैं । Epictetus के निम्नशब्द भी इस भावना को सुव्यक्त कर रहे हैं:—"Freedom and slavery, the one is the name of virtue, the other of vice, (and both are acts of the will.) अर्थात् स्वतन्त्रता यदि गुणों का नाम है तो परतन्त्रता सब अव गुणों की जननी है

Amiel ने लिखा है 'Liberty raises us to the gods अर्थात् स्वतन्त्रता दिव्य गुणों को हमारे अन्दर विकसित करती हुई हमें दिव्यता की ओर लेजाती है। इस प्रकार विषय वासनाओं से बद्ध न होकर स्वतन्त्र रहने का महत्व सुव्यक्त है।

७. सूर्य की प्रेरणा

इस उन्नति के मार्ग में आदित्य=सूर्य इषु प्रेरक है । इषु शब्द इष् Urge. impel धातु से बना है । इष्णाति प्रेरण करता है, इषु प्रेरक। सूर्य प्रतिक्षण आगे और आगे बढ़ रहा है, निरन्तर चल रहा है। अपने मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता हुवा वह थकता नहीं। इस प्रकार, प्रत्येक आगे बढ़ने वाले को वह अपने उदाहरण से उत्साहित करता है । मानो उसे कह रहा हो कि 'बढ़ते चलो बढ़ते चलो, तुम भी मेरी तरह चमकोगे (पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्)

संभवतः इसी उत्तम प्रेरणा के कारण ही वैदिक संस्कारों में भिन्न २ अवसरों पर सूर्य दर्शन कराया जाता है । मनुष्य ने सूर्य से प्रेरणा लेकर इस जीवन में आगे और आगे बढ़ते ही चलना है। यह आगे बढ़ना ही मनुष्य का विशेष गुण है Browning ने लिखा है

Progress, man's distinctive mark alone,
Not God's and not the beasts:' God is, they are;
Man partly is, and wholly hopes to be.

अर्थात् अग्रगति यह मनुष्य का विशेष गुण है । यह गुण न देवों का है, और न पशुओं का। देव तो पूर्ण ही हैं और पशु भी जो हैं वैसे ही रहते हैं । मनुष्य अपूर्ण है

और उन्नति करता २ पूर्ण होने की आशा रखता है ।

यदि हम इस अग्रगति के पाठ को न भूलेंगे तो हम अपने को 'दक्षिणादिक्' के पाठ पढ़ने का अधिकारी बना पायेंगे। आईये उस पाठ को अगले मन्त्र में पढ़ने का उपक्रम करें:—

सूचना:—मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्रों का उत्तरार्ध समान है। उसे सब मन्त्रों की समाप्ति पर ही देखेंगे । इन मन्त्रों के ऋषि, देवता का भी संकेत अन्तिम मंत्र के साथ ही किया जायगा।

—०—

सप्तम मंत्र

दक्षिण दिशा का उपदेश

ओं दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः

दक्षिणा दिक्—(आगे और आगे बढ़ते हुए) दाक्षिण्य के प्राप्त करने का यह दिशा संकेत कर रही है (कि ऐ मनुष्य तूने निपुण=Efficient बनना है, अपने क्षेत्र में शिखर पर पर पहुँचना है)

इन्द्रः अधिपतिः—इस दाक्षिण्य की दिशा का अधिपति इन्द=जितेन्द्रिय व ऐश्वर्यवान् है

तिरश्चिराजी—पशु पक्षियों की पंक्ति

रक्षिता—दाक्षिण्य भण्डार की रक्षक है, और

पितरः—हमारे पूर्वज व माता पिता

इषवः—दाक्षिण्य प्राप्त करने के लिये प्रतिक्षण हमें प्रेरणा दे रहे हैं।

१. दाक्षिण्य Efficiency

पूर्व दिशा के उपदेश को अच्छी तरह हृदय में अंकित करके यदि यह युवा आगे बढता ही गया—अपने कार्य में धैर्य पूर्वक लगा ही रहा तो वह अपने उस कार्य में अवश्य दाक्षिण्य प्राप्त कर लेगा। अभ्यास से उसका हाथ अधिकाधिक परिष्कृत होता जायगा'। "Practice makes a man perfcct" = अभ्यास मनुष्य को पूर्ण बना देता है यह लोकोक्ति ठीक ही है। किसी चीज़ का अभ्यास दीर्घ काल और नैरन्तर्य और आदर से सेवित होकर मनुष्य को सिद्धि तक पहुँचाता ही है। एक बालक जो अपने पढ़ने के अभ्यास को छोड़ नहीं देता वह अन्ततः विद्वान् बन ही जाता है। एक व्यक्ति व्यायाम के नैत्यिक सेवन से सबल होकर ही रहता है। एक व्यापारी अनुभव लेलेकर, यदि घबरा नहीं जाता, तो एक सफल व्यापारी बन ही जाता है। एक वैज्ञानिक अपने परीक्षणों में निरंतर लगे रहने पर वस्तु के तत्व तक पहुंच ही जाता है। किसी भी आविष्कार के होने पर, अनुभव से निर्मित वस्तु में परिवर्तन करतेकरते वस्तु को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने में वह समर्थ होता है।

इस सारी बात को इस मंत्र का पहला वाक्य 'दक्षिणा दिक्' सुव्यक्त कर रहा है 'प्राचीदिक्' के बाद 'दक्षिणादिक्' यही तो सकेत देरहाहै कि 'आगे बढ़ते चलो, अवश्य दाक्षिण्य = नैपुण्य प्राप्त करोगे।

२. दाक्षिण्य का अधिपति 'इन्द्र'

नैपुण्य को प्राप्त करने वाला व्यक्ति, नैपुण्य का अधिपति होकर इंद्र बनता है इंद्र शब्द परमैश्वर्य वाले का वाचक है (इदि परमैश्वर्ये) किसी भी चीज़ में नैपुण्य प्राप्त कर लेने पर यह उसके ऐश्वर्य का साधक होता है। पाश्चात्य जगत् ने विज्ञान में नैपुण्य को प्राप्त कर किस प्रकार ऐश्वर्य की वृद्धि की है यह अच्छी प्रकार ज्ञात ही है। अमेरिका में फोर्ड ने मोटरों के निर्माण में दाक्षिण्य को प्राप्त कर के अपार सम्पत्ति को कमाया है। किसी भी क्षेत्र में नैपुण्य मनुष्य को ऐश्वर्य प्राप्त करायेगा ही। परंतु 'इन्द्रोऽधिपतिः' इस वाक्य की इससे भी सुंदर भावना तो यह है कि 'जो इन्द्र है वही इस दिशा का अधिपति हो सकता है'। 'इन्द्र' शब्द के यास्क के अनुसार दो अर्थ यहां लेने हैं १ ऐश्वर्य का मालिक, और २ शत्रुओं का द्रावक। दाक्षिण्य का अधिपति बनने के लिये इन दोनों ही बातों को आवश्यकता है।

३. दाक्षिण्य प्राप्ति के दो साधन

वैज्ञानिकों ने जिन परीक्षणों को करते२ उड़ने में नैपुण्य प्राप्त किया, उन सब परीक्षणों का सम्पत्ति के अभाव में होने का संभव ही न था। जिस देश में लोगों को खाना भी पूरा नहीं मिल सकता, वह देश विविध परीक्षणों के द्वारा किसी भी क्षेत्र में नैपुण्य को कैसे प्राप्त कर सकता है। वायुयानों को बनाने के लिये वर्षों परीक्षण होते रहे, उसमें अपार सम्पत्ति का व्यय हुवा। तब कहीं जाकर उड़ने का आधिपत्य मनुष्य प्राप्त कर सका।

अन्य सब आविष्कारों की कथा भी इसी तरह की है। सम्पत्ति के बिना विज्ञान की आधुनिक उन्नति हो ही न पाती।

इसके, साथ यदि देश पर हर समय अन्दर व बाहर के शत्रुओं के आक्रमण का भय बना रहे, तो भी उस देश के लोग तत्परता से अपने २ कार्य को निश्चिन्तिता पूर्वक नहीं कर सकते। और ऐसी अवस्था में दाक्षिण्य प्राप्त करने का संभव ही कैसे हो सकता है। एवं यह स्पष्ट है कि दाक्षिण्य का अधिपति वही देश बन पायेगा जिसमें कि शत्रुओं के भय को दूर करने वाला 'इन्द्र' शासक होगा। उत्तम राजा के व शासन व्यवस्था के अभाव में आन्तर व बाह्य उपद्रवों के कारण अशान्त वातावरण में दाक्षिण्य की प्राप्ति नहीं हुवा करती। उस वातावरण में न दार्शनिकों की विचार चर्चायें चल पाती हैं, और न ही क्षत्रियों का शस्त्राभ्यास ठीक तरह से हो पाता है, रामायण में इसी युक्ति को उपस्थित कर के, दशरथ की मृत्यु पर, एकदम राजा के चुनाव के लिये मन्त्रणा होती हैं। चूंकि शासन के अभाव में सारे कार्य ही अवसन्न (समाप्त) हो जाते हैं। दाक्षिण्य का संभव एक सम्पन्न शत्रुभयशून्य राष्ट्र में ही है।

वैयक्तिक रूप में भी इन्द्र=जितेन्द्रिय काम क्रोध आदि को जीतने वाला पुरुष ही दाक्षिण्य को प्राप्त कर सकता है। व्यसनों में फंसे हुए के लिये दाक्षिण्य प्राप्त करना असंभव है। व्यसनासक्त तो अग्रगति न कर अवनति की ओर जा रहा होता है। वह तो दाक्षिण्य के मार्ग पर ही नहीं। अधिपति बनने की तो कथा ही क्या।

४. दाक्षिण्य भण्डार के रक्षक (Store keeper)

इस दाक्षिण्य की रक्षिता=अधिक से अधिक मात्रा में रखने वाली=दाक्षिण्य भण्डार की रक्षक 'तिरश्चि-राजि'=पशुपक्षियों की पंक्तियां हैं। इस वाक्य का अभिप्राय एक दो उदाहरणों से

स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य को वायुयान के निर्माण का विचार पशुपक्षियों की उड़ान को देखकर ही तो आया। वायुयान के लिये ग्रामीणों से रखा हुवा नाम 'चील गाड़ी' इस बात को पुष्ट कर रहा है कि चील की उड़ान मनुष्य को प्रेरणा करने वाली थी। मनुष्य ने वायुयान तो बनाया, उसे बनाकर वह उड़ा परन्तु क्या चील ने उड़ने में उसे पराजित नहीं कर दिया ? जिस प्रकार पंखों को लगभग स्पन्दनशून्य करके बिना शब्द के चील उड़ सकती है, क्या हमारे अच्छे से अच्छे वायुयान वैसा कर सकते हैं ? इस उड़ने में एक मक्खी भी तो मनुष्य को मात कर देती है। इसी प्रकार मधुमक्खियां जिस चतुरता से फूलों रस को लेकर मधु (शहद Mead) का निर्माण करती हैं क्या मनुष्य के लिये वैसा कर सकना संभव है। उसके छत्तो के कोष्ठों में सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र लम्बाई चौड़ाई की गलती नहीं दिखा सकते। एवं इस निर्माण कला के भण्डार की यह मधुमक्खियां रक्षिका हैं। चींटियों की अपने उपनिवेश की व्यवस्था मनुष्य के लिये आदर्श को उपस्थित करती है। बया पक्षी का घोंसला आश्चर्य जनक सौन्दर्य व दृढ़ता से सम्पन्न होता है। 'सिंहतैरी' शब्द ही तैरने में सिंह को दाक्षिण्य का रक्षक बता रहा है। वस्तुतः पशुपक्षी प्रत्येक क्षेत्र में दाक्षिण्य के Store keeper हैं। उस २ अंश में वे पूर्णता तक पहुँचे हुए हैं। ब्रह्मचर्य सूक्त में इन को संयम के दृष्टिकोण से आदर्श ब्रह्मचारी भी कहा है।

यह पशु पक्षियों का दाक्षिण्य मनुष्य के लिये आदर्श का काम करता है। इस व्यवस्था से मनुष्य का अभिमान चकना

चूर हो जाता है। और इस अंश में तो अमुक पक्षी ही हमारे से आगे हैं, यह विचार उसे घमन्डी नहीं बनने देते। पशु पक्षिओं में ईश्वरदत्त वासना (Instinct) काम करती है। उस २ अंश में वही उन्हें मनुष्य से ऊपर रख रही है। उनमें रखे उस दाक्षिण्य को देख कर अपनी बुद्धि से समझ कर हमने भी उसे प्राप्त करना है। परमेश्वर स्वयं कह रहा है कि "वेदा यो वीनां अन्तरिक्षेण पततां वेद नावः समुद्रियः" अर्थात् जो अन्तरिक्ष में उड़ते पक्षियों को (उनकी उड़ान के रहस्य को) समझता है, वह समुद्र (१)अन्तरिक्ष में चलने वाली नावों को (वायुयानों) को प्राप्त कर पाता है।

५. पितरों की प्रेरणा

उस दाक्षिण्य प्राप्ति के लिये आगे और आगे बढ़ते हुए उस युवा के लिये पितर इषु=प्रेरक बनते हैं। वे उसे निरन्तर प्रेरणा व उत्साहन देते हैं। और वस्तुतः 'A man can do what a man has done' ='जो एक मनुष्य कर सकता है वह दूसरा भी करसकता है' इस उक्ति के अनुसार उन्हें कहते हैं कि अमुक २ पूर्वज ने अमुक २ प्रकार का दाक्षिण्य प्राप्त किया तो तुम भी क्यों नहीं कर सकते। अर्जुन अस्त्रविद्या में इतना सिद्ध हस्त था तो तुम भी क्यों नहीं हो सकते। Addison इतने आविष्कार कर सका तो तुम भी क्यों न कर पाओगे।

इस प्रकार अपने पितरों के उदाहरण व प्रोत्हासन से वह युवक धैर्य को खोता नहीं और अभ्यास करते करते दाक्षिण्य

---

१. समुद्र=यह शब्द वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में भी आता है (निघण्टु१, ३, १५)

को प्राप्त कर ही लेता है। इस दाक्षिण्य को प्राप्त कर लेने पर उसे 'प्रतीची' दिशा क्या चेतावनी देती है, उसे अब देखिये—

——०——

अष्टम मन्त्र

प्रत्याहार (असंग = non sinking)

ओं प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताऽन्नमिषवः ।

प्रतीची दिक् = (प्रावीण्य प्राप्त मनुष्य को) यह दिशा प्रत्याहार का संकेत कर रही है (प्रति+अञ्च् = वापिस आना) यह उसे कह रही है कि दाक्षिण्य से ऐश्वर्य को प्राप्त करके उनमें फंस न जाना । संयम से रहना, उनमें गयी इन्द्रियों को लौटाना ।

वरुणो अधिपतिः = इस दिशा का अधिपति वरुण है (पाशों वाला होता हुवा वह मनुष्य को प्रत्याहार की शिक्षा दे रहा है)

पृदाकुः = पालन व पूरण के लिये (पृ) सब भोग्य पदार्थों को देने वाली (दा) पृथिवी (कुः)

रक्षिता = प्रत्याहार (वापिस लौटना) रूप संपत्ति की रक्षक है (अपने से दूर गये सब पदार्थों को आकृष्ट करने में यह आदर्श है)

अन्नम् = सब भोग्य पदार्थ (अजितेन्द्रियावस्था में भोग क्षमता के नष्ट हो जाने का संकेत करते हुए)

इषवः = प्रत्याहार की प्रेरणा दे रहे हैं ।

१. भयंकर खतरा

जब मनुष्य आगे बढ़ते २ दाक्षिण्य को प्राप्त कर लेता है तो

उस का प्रकृति विषयक ज्ञान बढ़ते २ उसे प्रकृति पर थोड़ा बहुत प्रभुत्व प्राप्त करादेता है। उस समय मनुष्य की सुख सामग्रियों की वृद्धि के साथ २ उस के पतन की संभावना भी बढ़ती जाती है। वह सुखसाधनों को जुटा कर आरामतलब हो जाता है और विषय वासनाओं का शिकार बन जाता है। उस समय उस के सारे दाक्षिण्य का उपयोग विषयोपभोग की सामग्री को जुटाने में ही होने लगता है।

वर्तमान काल में विज्ञान की उन्नति जहां मनुष्य के दाक्षिण्य को प्रकट कर रही है वहां उस वैज्ञानिक उन्नति का उपयोग उपयुक्त संभावना को भी पुष्ट कर रहा है। मनुष्य ने तरल तम (=अत्यन्त चन्चल) विद्युत् को भी अधीन करने में दक्षता प्राप्त की पर उस विद्युत् ने रात्रि-जीवन (nightlife) को पैदा कर मानवशक्तियों को Disspiate (=विकीर्ण=बरबाद) करने में ही तो सहायता की। आराम के लिये दी गई रात्रि को भी लोग बिजली से जगमग कर, दिन सा बना, नाचने गाने के आनन्द में ही व्यतीत करने लगे। Medical scince (चिकित्सा शास्त्र) में देखते २ अनन्त उन्नति हो गई। पर इस उन्नति ने रोगों का इलाज कर जहां मनुष्य को नीरोग बनाया वहां मनुष्य नाना प्रकार के रोगरूपी अंकुशों से भयभीत न हो कर भोगलिप्त भी तो हो गया

बस इसी पतन से बचने के लिये दाक्षिण्य प्राप्त युवा ने प्रतीची दिशा से प्रत्याहार (वापिस लौटाने) का पाठ पढ़ना है। सूर्य भी तो इस दिशा में पहुंच कर ब्रह्माण्ड के पदार्थों से पृक्त (=सम्बद्ध) अपनी किरणों को प्रत्याहृत कर रहा है। "प्रतीची" शब्द प्रति+अञ्च् से बना है, इस का अर्थ है 'वापिस लौटना'

जो इन्द्रियां विषयों के ज्ञान प्राप्त करने में लगी रह कर हमारी दाक्षिण्य प्राप्ति का कारण बनी थीं, वे इन्द्रियां 'उन्हीं विषयों में फंस न जांय' इस लिये यह प्रतीची दिक् संकेत करती है कि 'इन्द्रियों को बिषयों से वापिस लौटाओ, कहीं ये उन से जकड़ न ली जांय।

२. वरुण का आधिपत्य

इस प्रत्याहार की दिशाका अधिपति वरुण है। अधिपति = Master शिक्षक जैसे दण्ड भय से भी शिष्य को अपथ में जाने से रोकता है उसी प्रकार यहां वरुण मनुष्यों को विषयों में फंसने से रोक रहा है। वैदिक साहित्य में वरुण को पाशीजालों वाला कहा गया है (प्रचेताः =, वरुणः =,पाशी)। "ये ते पाशाः वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषितारुशन्तः, छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्" इन अथर्व के शब्दों के अनुसार उस वरुण के ७. ७. ३ = १४७ बड़े दृढ़ पाश हैं। उस के ये पाश "अनृत (न ऋत = Not right) नियम पालन न कर विषयों में फंसने वाले को बांधकर उसे विषयों से पृथक् कर देते हैं (छिनन्तु) = Tc tear away, to remove) वरुण के ये पाश "यः सत्यवा द्यतितं सृजन्तु' = सत्यबादी को (= अपने जीवन में सत्य को अनूदित करने वाले व्यक्ति को) नहीं बांधते। सत्यवादी को ये स्वतन्त्रता से अपने नियम पर चलने देते हैं, एवं प्रत्याहार की दिशा का रक्षक यह वरुण है।

इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मनुष्य तब तक विषयों में कुछ न कुछ फंसा ही रहता है जब तक कि

उसे प्रभु की झांकी नहीं मिलती । निराहारता (उपवास) आदि के द्वारा विषय निवृत्त हो भी जांय पर उनकी इच्छा (रस) यह तो उस वरुण के दर्शन होने पर ही दूर होगी। गीता में स्पष्ट कहा है कि "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" विषयों का राग तो उस प्रभु के दर्शन होने पर ही निवृत्त होगा। गीता के शब्दों में पानी की बाढ़ के आ जाने पर कूएं की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इस प्रकार प्रभु का ज्ञान हमें पवित्र करता है "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इस ज्ञान के समान पवित्र करने वाली दूसरी वस्तु नहीं । वरुण=पाशी का उग्ररूप यदि हमें पाशों के जकड़े जाने के भय से अनृत=मर्यादोल्लंघन से रोकता है, तो उसका आनन्द मय रूप हमें विषयों की तुच्छता का भास करवा कर उनसे विमुख करता है । दोनों ही प्रकारों से यह हमें प्रत्याहार का पाठ पढ़ाता है । और इस पाठ को पढ़ा कर हमें विषयों से निवृत्त वरुण=श्रेष्ठ बनाता है । इस प्रत्याहार के पाठ का जो आधिपत्य (Mastery) प्राप्त करेगा वह वरुण श्रेष्ठ क्यों न बनेगा ?

३. पृदाकुः

इस प्रत्याहार का Storekeeper प्रत्याहार रूप संपत्ति का सबसे बड़ा रक्षक "पृदाकुः" है । 'पृदाकू रक्षिता' इस पाठ में व्याकरण के नियमानुसार 'र्' का लोप तथा उ को दीर्घ हो गया है। वस्तुतः शब्द का रूप 'पृदाकुः' ही है । पृदाकु का अर्थ (कुः) पृथिवी है जो कि (दा) नाना प्रकार की भोग सामग्री को देकर, खान पान आदि को प्राप्त कराके (पृ) हमारा पालन

व पूरण कर रही है। पृथिवीस्थप्राणियों के लिये प्रत्याहार का सर्वोत्तम आदर्श यह पृथिवी ही उपस्थित कर रही है। अपने से दूर गये प्रत्येक पदार्थ को यह नियम से अपनी ओर आकृष्ट करने में लगी है। इसी प्रकार प्राचीएय (दाक्षिण्य) को प्राप्त मनुष्य ने भी अपने से दूर गई चित्त वृत्तियों को पुनः अपनी ओर आकृष्ट करना है। "यदा संहरते चायं कूर्मो ऽङ्गानीव सर्वशः इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।' इस गीता वाक्य के अनुसार जिस प्रकार कछुवा (भय के होने पर) चारों ओर से अंगों को संकुचित कर लेता है। उसी प्रकार जब मनुष्य इन्द्रियार्थों से इन्द्रियों को हटालेता है। तभी उस की बुद्धि प्रतिष्ठित=स्थिर होती है। अन्यथा, वह कामनाओ के वशीभूत हो कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता=स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। इस प्रकार मनुष्य ने पृथिवी के इस आकर्षण को अपना आदर्श बना कर विषयों में फंसने लगी इन्द्रियों को और चित्तवृत्तियों को प्रत्याहृत करना हैं।

४. 'अन्न' प्रत्याहार की प्रेरणा दे रहा है

पृथिवी प्रत्याहार की रक्षिता है तो पृथिवी से उत्पन्न अन्न =भोगसामग्री मनुष्य को प्रत्याहार की प्रेरणा देने वाली 'इषु' है। प्रश्न हो सकता है कि 'अन्न प्रत्याहार का प्रेरक कैसा? इसका उत्तर यह है कि यह अन्न मनुष्य को कह रहा है कि प्रत्याहार द्वारा जितेन्द्रिय बनकर अपने शरीरों को ठीक रखोगे तभी तो हमारा उपभोग कर सकोगे। अजितेन्द्रिय होने पर अन्न पाचन की क्षमता भी नहीं रह जाती। "अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति" यह अथर्व मन्त्र वाक्य ऊपर की भावना

को बड़ी अच्छी तरह चित्रित कर रहा है। अ-ब्रह्मचारी को विषयों के भोग का भी आनन्द नहीं मिलता। जो विषयों से अपना परिचय बढ़ाता है, विषय उससे मानो घृणा करने लगते हैं। "भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः" इन भर्तृहरि के शब्दों में भोगों का उसने क्या भोग किया, भोगों का ही वह शिकार हो गया। कठोपनिषद् के "सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" इस वाक्य के अनुसार भोगों का तो स्वभाव ही इन्द्रिय शक्तियों को जीर्ण कर देने का है।

नचिकेता की तरह जो भी व्यक्ति इन भोगों में नहीं फंसता वह, श्रेष्ठ पवित्र बनकर आत्मज्ञानी बनता है। यही व्यक्ति परमेश्वर से वरे जाने का अधिकारी होता है। यम ने जैसे नचिकेता के लिये कहा था कि 'न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त' अर्थात् तुझे ये नाना काम्य पदार्थ लुब्ध नहीं कर सके, इसी प्रकार जिस भी व्यक्ति के लिये यह कहा जा सकता है वही आत्मज्ञानी बन सकता है। यह काम हमें लुब्ध न करें इसका सर्वोत्तम उपाय इनके स्वरूप का चिन्तन ही है। इनका स्वरूप इन्द्रियशक्ति को जीर्ण करना है सो इनमें फंसने वाला तो इनका शिकार हो जाता है। यह सोचकर मनुष्य इन में न फंसने का (प्रत्याहार का) पाठ क्यों न पढ़ेगा?

नवम मन्त्र

उन्नति की दिशा

ओम् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।

उदची दिक्—यह उत्तर दिशा उन्नति का संकेत कर रही है।
सोमोऽधिपतिः—उन्नति का अधिपति सोम है (अभिमान पतन का कारण होता है)।
स्वजो—सु + अजः निरन्तर क्रियाशील ही (इस उन्नति का)
रक्षिता—रक्षक है। (क्रिया समाप्त होते ही पतन हो जाता है)
अशनिः— (जिसकी ज्वाला ऊपर को ही जाती है) वह अग्नि
इषवः— इस ऊर्ध्वगति (उन्नति) का प्रेरक है।
(सूचना) —भौगोलिक दृष्टि कोण से उदीची दिक् ऊपर की ही दिशा है।

१. उत्थान

उदीची दिक् उन्नति की दिशा है। 'आगे बढ़ो' इस पाठ को पढ़ कर मनुष्य अवश्य दाक्षिण्य को प्राप्त करता है। इस दाक्षिण्य से प्राप्त ऐश्वर्य के कारण मनुष्य का विषय में फंस जाने का खतरा होता है। इसी खतरे से बचने के लिये प्रतीची दिक् ने हमें प्रत्याहार का संकेत किया था। इस संकेत को यदि समझकर हम क्रिया में परिणत करेंगे तभी हमारी उन्नति प्रारम्भ होगी। प्रतीची दिक् के बाद 'उदीची दिक' इसी बात को कह रही है। उदीची शब्द उद् अञ्च् से बना है-- ऊर्ध्व गति।

यदि हम विषयों में फंस जाते तो हमारा सारा दाक्षिण्य व शक्ति नष्ट हो जाती और हम अवनति की ओर चले जाते परन्तु प्रत्याहार द्वारा -संयम द्वारा - उस शक्ति के सुरक्षित होने से हमारी उन्नति का प्रारम्भ होता है।

२. अभिमान

अब हम अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिसंपन्न होकर दाक्षिण्य को प्राप्त करके ऊपर उठने लगें तो हो सकता है कि हमारे अन्दर कुछ अभिमान का अंश आने लगे। और यदि यह आगया तो हमारी सारी उन्नति फिर समाप्त हो जायगी। अभिमान सदा पतन की ओर ले जाता है = Pride goeth before a fall जो आप को ऊंचा समझने लगा है, उस में और ऊंचा उठने की प्रवृत्ति जाती रहती है। "उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति', = अर्थात् जो अपने को औरों से ऊंचा उठा हुवा समझने लगता है, वह धीमे २ अवनति गर्त में पहुँच जाता है। अपने को वृक्ष की चोटी पर स्थित समझने वाला व्यक्ति और ऊंचा कहां उठेगा?

एक अभिमानी के अन्दर कुछ निरंकुशता की भावना भी काम करने लगती है। "मेरे से ऊपर कौन जो मुझे रोके" कुछ इस प्रकार का उस भावना का स्वरूप होता है। एवं इस अभिमान से कुछ नशा सा आ जाता है और मनुष्य का ज्ञान आवृत प्राय हो जाता है अब अज्ञान से अभिमान की और वृद्धि होती है Addison के शब्दों में, pride flows from ignorance of ourselves'= अपने को ठीक स्वरूप में न देखने से अभिमान उत्पन्न होता है। और इस अभिमान से फिर अज्ञान की वृद्धि। इस प्रकार अज्ञान और अभिमान एक दूसरे के आधार से दिन ब दिन बढ़ते ही जाते हैं।

अब परिणाम यह होता है कि इस अभिमान से हम व्यसनों में फंस विपरीत मार्ग पर बढ़ने लगते

हैं। Vanity is the source of nearly all vices and all perversities (Cham-fort) के ये शब्द पूर्ण सत्य हैं कि घमण्ड से धीमे २ सब विषय विकार मनुष्य को घेर लेते हैं। उसमें देवांशों (= गुणों) की कमी होती जाती है, और आखिर वह देव न रह दस्यु बन जाता है। Howell ने इस बात को इस प्रकार लिखा है कि "Pride is a flower that grows in the devil's garden" अर्थात् अभिमान रूप पुष्प शैतान के बाग़ में उगता है।

३. सौम्यता

परन्तु दाक्षिण्य के साथ संयम संपन्न हो यदि हम इस बात को न भूले कि "उन्नति की दिशा का अधिपति सोम है' = अर्थात् सौम्य पुरुष ही उन्नति का स्वामी है, तो हम कितने भी ऊपर उठ गये तो भी अपने से और अधिक ऊपर उठे हुए पुरुषों की अपेक्षा अपने को नीचे देख हम अभिमान से रहित होंगे तथा और ऊपर उठने का प्रयत्न करेंगे इस प्रकार दिन ब दिन हमारे अन्दर गुणों की वृद्धि होती जायगी। "अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते' = अपने को वृक्ष की चोटी पर न पहुँचा हुवा समझने वाला पुरुष चोटी पर पहुँचने का प्रयत्न करता हुवा, चोटी पर जा ही पहुँचता है। सभी गुणों की जननी नम्रता ही है। Moore ने लिखा है Humility that low sweet root from which all heavenly virtues shoot-इसी भाव को कन्फ्यूशस ने इस प्रकार कहा था कि Hum-ility is the solid foundation of all the virtues" अर्थात् नम्रता ही सब सद्गुणों की दृढ़ नीव है। संस्कृत की उक्ति

है कि "विनयात् याति पात्रताम्" नम्रता से मनुष्य सब सद् गुणों का पात्र बनता है वेद कहता है कि "भूमिरसि सोम्यानाम्" प्रभु सौम्य (=विनीत) मनुष्यों को विपरित मार्ग से हटाकर ठीक मार्ग पर ले चलता है, और इस प्रकार धीमे २ उन्हें सामान्य मनुष्यों की सीमा से ऊपर उठ कर ऋषि (देव) कोटि में प्राप्त कराता है (ऋषिकृन्मर्त्यानाम्)

वस्तुतः अभिमान आसुरी संपत् का अंश है और ही (अपनी प्रशंसा सुनने में लज्जा का अनुभव करना) और नातिमानिता (घमण्डा न होना) दैवी संपत्ति के प्रमुख अंश हैं। अभिमान मनुष्य को असुर बना पाताल की ओर ले जाता है और विनय उसे दिव्य देव बना स्वर्ग की ओर ले चलती है । इसी से वेद मन्त्र में इस उन्नति की दिशा का अधिपति सोम को माना है।

४. क्रियाशीलता

इस उन्नति की दिशा का रक्षक स्वज है । यह शब्द सु अज से मिलकर बना है। सु=उत्तम प्रकार से अज=गति के द्वारा मालिन्य को परे फेंकने वाला । ऊर्ध्वगति के लिये constant action=निरन्तर क्रिया शीलता=समारम्भ आवश्यक है। विदुर नीति में इसी बात का ध्यान करते हुए पण्डित का लक्षण यही माना है कि अपना ज्ञान प्राप्त करके वह निरन्तर क्रिया शील होता है । (आत्मज्ञानं समारम्भः) आत्मज्ञान यही तो है कि मैं आत्मा हूँ-सन्तत गमन ही (अत सातत्यगमने) मेरा स्वभाव है । निरन्तर क्रिया करना ही मेरा स्वरूप है। मैं 'शतक्रतु' हूँ मैंने आयु के सौ के सौ वर्ष